अतिमुक्त

गणेश ललवानी

अनुवादिका
राजकुमारी बेगानी

जैन भवन । कलकत्ता

प्रकाशन वर्ष १९७५

प्रकाशक :
श्री कान्तिलाल श्रीमाल
मंत्री, जैन भवन
पी-२५ कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

मुद्रक :
श्री नवरतनमल सुराना
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५ रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७

चित्रकार :
श्री विभूति सेनगुप्त

मूल्य ४.००

२५०० वाँ भगवान महावीर निर्वाणोत्सव के उपलक्षमें प्रकाशित

प्रकाशकीय

आज से चार वर्ष पूर्व श्री गणेश ललवानी लिखित बंगला भाषा में जैन कथानक का एक संग्रह 'अतिमुक्त' जैन-भवन से प्रकाशित किया गया था। इसकी अनुपम रचना शैली, भाषा तथा विषय गौरव के लिए विद्वत् बंगाली समाज द्वारा इसका अच्छा स्वागत किया गया। यहाँ तक की जातीय अध्यापक डा० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने प्रमुदित होकर स्वयं एक पत्र लिखकर लेखक को अभिनन्दित किया। अतः इस कृति का हिन्दी अनुवाद भी अत्यावश्यक था ताकि हिन्दी भाषा-भाषी इसके रसास्वादन से वंचित न हो। हमें अपार हर्ष है कि यह दुरूह कार्य सम्पन्न किया हमारे जैन शिक्षालय की प्रधानाध्यापिका श्रीमती राजकुमारी बेगानी ने। इसके लिये हम उनके हार्दिक आभारी हैं।

हमें इस बात का भी हर्ष है कि हम इस ग्रन्थ को भगवान महावीर के २५०० वाँ निर्वाण वर्ष में प्रकाशित कर सके।

आप द्वारा रचित 'अतिमुक्त' पुस्तक प्राप्त कर मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। जैन धर्म, अनुष्ठान, इतिहास एवं दर्शन सम्बन्धीय कुछ-कुछ पुस्तकें बंगला भाषा में भी पाई जाती है। किन्तु जैन शास्त्र ग्रन्थों से लेकर लिखा हुआ, इस रूप का कहानी संग्रह मैंने इसके पूर्व नहीं देखा। क्या आर्ष प्राकृत में, क्या अन्य प्राकृत में, क्या संस्कृत में, क्या अपभ्रंश में, क्या प्राचीन गुजराती में, राजस्थानी और हिन्दी में जैन कथा-सम्पद, प्रसार और सौन्दर्य में अतुलनीय है। यद्यपि अधिकांश कहानियाँ मुनि, यति व साधुओं द्वारा कथित होने के कारण प्रायः सर्वत्र ही प्रव्रज्या की महिमा पर प्रकाश डालने वाली हैं। साधारण पाठक इसमें से जो साहित्य रस प्राप्त करते हैं वह मुख्य नहीं, गौण है। किन्तु बहुत सी ऐसी भी कहानियाँ है जो रस सर्जन करने में तो अत्यन्त मनोहर हैं ही साथ ही वैराग्य धर्म के अन्तराल में अन्तः-सलिला फल्गु नदी की भाँति उसमें अन्तर्निहित सौन्दर्य एवं रसधारा, समस्त सहृदयी साहित्य कला प्रेमियों को प्रेरित करेगी। आपकी यह छोटी किन्तु अत्यन्त सुन्दर भाव से प्रांजल प्रचलित बंगला में लिखित 'अतिमुक्त' पुस्तक लगता है रसोतीर्ण जैन कहानी साहित्य का विदग्धजन समाज से परिचित करवाने का प्रथम प्रयास है। इसी तरह की और भी अनेक पुस्तकें हम आपसे चाहते हैं। कहानियों को जहाँ तक सम्भव

हो मूलानुसारी रखना होगा—साहित्यिक cliche—जैन साहित्य का "वण्णअ" की भाँति—मूलग्रन्थ वहिर्भूत वर्णनात्मक अलंकरण जितने कम होंगे उतना ही अच्छा होगा। प्रत्येक कहानी के अन्त में उसके उद्गम पर मूल ग्रन्थ का पूर्ण निर्देश आग्रही पाठकों के लिये विशेष उपयोगी होगा। आप पहले इसी रूप में कहानी मूलक 'महावीर चरित्र' हमें प्रदान करें। तत्पश्चात् एक या एक से अधिक खण्ड में चौबीस (या तेईस) तीर्थंकरों की चरित-कथा दीजिये। इससे कहानियों का अशेष भण्डार जैन साहित्य का प्रचार सहज रूप में होगा ही, साथ ही साथ जैन दार्शनिक मत का और आध्यात्मिक विचारों का बंगाली पाठक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

'अतिमुक्त' का वाह्य सौष्ठव सुन्दर हुआ है, एवं शिल्पी श्रीयुक्त विभूति सेनगुप्त के चित्र भी अद्भुत हैं। इन सुन्दर चित्रों ने पुस्तक की मर्यादा वढ़ा दी है। आपकी आगामी कहानियाँ व चरित विषयक जैन ग्रन्थमाला में आप इसी प्रकार के चित्र निश्चय ही दीजियेगा। (हमलोग आशा करते हैं कि हम इस तरह की पुस्तकों से वंचित नहीं होंगे।) सचित्र महावीर चरित विशेष रूप से अपेक्षित है।

आपकी इस पुस्तक को पाकर अपार आनन्द हुआ। अतः आपको यह पत्र लिखा। यह पत्र लेखन सम्पूर्ण "आनन्दोत्थ" है और यह आनन्द आपने ही दिया है इसलिये आपको धन्यवाद। इति १ अगस्त १९७२

श्री सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय

अतिमुक्त

महावीर के शिष्य गौतम एक दिन पोलासपुर राजप्रासाद के बगल से गुजर रहे थे।

उस समय राजप्रासाद के बाहरी उद्यान में राजकुमार अतिमुक्त अपने साथियों के साथ खेल रहा था। सहसा उसकी दृष्टि गौतम पर पड़ी। न जाने क्यों गौतम की सौम्य मूर्ति से वह इतना प्रभावित हुआ कि खेलना भूल गया और उनके पास दौड़कर आया। बोला, भदन्त, आप कौन हैं ?

गौतम ने संक्षेप में अपना परिचय देते हुए कहा, श्रमण।

परन्तु इस परिचय से अतिमुक्त संतुष्ट नहीं हुआ। वह प्रश्नों पर प्रश्न करने लगा, आप कहाँ रहते हैं ? क्या करते हैं ? कैसे आपकी जीविका चलती है ? आप कहाँ से आ रहे हैं ? और कहाँ जाएँगे ?

इन प्रश्नों को सुनकर गौतम मुस्कराए और बोले, हम श्रमण हैं। आत्म चिंतन ही एकमात्र हमारा कार्य है। और निवास ? हमलोगों का निवास सर्वत्र है। जब जहाँ रह जाएँ, वहीं हमारा निवासस्थान है। अब रही जीविका अर्थात् पेट भरने की बात, सो तो यह हमलोगों के लिए कोई चिन्ताजनक बात नहीं है। जहाँ जो कुछ शुद्ध आहार मिल

जाता है उसे ही हम वहाँ ग्रहण कर लेते हैं। और अभी मैं नगर के बाहर स्थित उद्यान से चला आ रहा हूँ, जहाँ हमारे आचार्य ठहरे हुए है। पुनः वहीं लौट जाऊँगा।

आपके आचार्य! क्या हम उनका दर्शन नहीं कर सकते?

क्यों नहीं? कोई भी उनके निकट जा सकता है। उनका द्वार सभी के लिए खुला है।

यह सुनकर अतिमुक्त अत्यन्त प्रसन्न हुआ। आचार्य के पास जाने को गौतम के साथ ही चल पड़ा। गौतम के साथ एक लम्बी दूरी पार करने के पश्चात् जिस समय अतिमुक्त उद्यान में पहुँचा उस समय भगवान् महावीर उपस्थित जन-साधारण को उपदेश दे रहे थे।

अतिमुक्त प्रशान्त मनःस्थिति से उनकी अमृत तुल्य वाणी सुनता रहा। वह वाणी उसके अन्तर में प्रवेश कर गयी। व्याख्यान समाप्त होते ही वह उनके सम्मुख आ खड़ा हुआ। बोला, भदन्त, मैंने आपकी शरण ग्रहण की है। आप मुझे दीक्षा दें।

उसकी बात स्वीकार करते हुए भगवान ने कहा, वत्स, अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर आओ। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।

गुरु का आदेश शिरोधार्य कर अतिमुक्त अपने माता-पिता की अनुमति लेने घर आया। उसकी प्रव्रज्या लेने की बात सुनते ही महाराज, महारानी, यहाँ तक की समस्त अन्तःपुर विचलित हो उठा। भाँति-भाँति के प्रलोभनों द्वारा उसे इस निर्णय से निवृत्त करने की चेष्टा की गयी। किन्तु जिसके मन का संकल्प दृढ़ हो जाता है उसे डिगाया नहीं जा सकता। अतः अतिमुक्त को भी वे विचलित नहीं कर सके।

लकड़ी का भिक्षापात्र पानी में तैरा कर वह देखता रहा।

अन्त में माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर अतिमुक्त गुरु के पास चला गया।

दिन पर दिन बीतते गए। एक दिन अतिमुक्त अन्य श्रमणों के साथ भिक्षा के लिए नगर की ओर जा रहा था। वर्षा ऋतु थी। कुछ समय पूर्व ही मूसलाधार वर्षा हो चुकी थी। ज्वार के खेत के बगल से निकलने वाले नाले में पानी बह रहा था। और एक ध्वनि आ रही थी कल-कल कल-कल। ध्वनि कान में पड़ते ही अतिमुक्त सहसा खड़ा हो गया।

लहरों की ध्वनि सुनकर उसे अपने बचपन की एक बात याद आ गई। उस दिन भी ऐसे ही नाला उमड रहा था एवं ऐसी ही कल-कल ध्वनि आ रही थी। वह उस पानी में कागज की नाव तैरा रहा था और चम्पा भी अपनी नाव तैरा रही थी। उसकी नाव तो तिर गयी किन्तु चम्पा की नाव न जाने क्यों पानी के बहाव में उलट गयी। किन्तु कितनी दुष्ट थी चम्पा! कह रही थी कि अतिमुक्त की नाव डूब गयी है, उसकी नहीं। अतिमुक्त ने उसे एक थप्पड़ मारते हुए कहा था, यह झूठ है।

झूठ ही तो था?

अतिमुक्त संभवतः अपने को भूल बैठा। वह धीरे-धीरे नाले की ओर बढ़ा। लकड़ी का भिक्षापात्र पानी में तैरा कर वह देखता रहा और बड़बड़ाता रहा, यह झूठ है। वह देखो मेरी ही नाव तैर रही है।

श्रमणगण अतिमुक्त की यह दशा देखकर आश्चर्य-चकित हो उठे।

उन्होने उसे समझाने की चेष्टा की। किन्तु उसके पल्ले कुछ भी पड़ता है ऐसा दिख नहीं रहा था।

अतः सभी श्रमण उसे वहीं छोड़कर चले गए।

श्रमणों के मन में संशय उत्पन्न हो गया। वे सोचने लगे भगवान् ने न जाने क्या समझ कर इस नादान बालक को दीक्षा दे दी।

क्या समझ कर दीक्षा दी यह तो वे ही जाने! भगवान् का सोचना-विचारना साधारण मनुष्यों जैसा नहीं था। उनकी दृष्टि मानव की दृष्टि नहीं थी। एतदर्थ इस विषय में भगवान से प्रश्न करने का अधिकार भी उन्हें कहाँ था?

यह अधिकार वास्तव में ही उन्हें नहीं था। कारण अचानक स्वयं पर दृष्टि पड़ते ही अतिमुक्त की चेतना लौट आयी। ओह! मैंने यह क्या किया? अपनी जीवन-नौका को पार करने के लिए ही तो मैंने भगवान की शरण ली है। अब मैं कौन सी नौका को पानी में तैराकर खेलने लगा? और यहाँ तक कि खेल में मत्त होकर वयोवृद्ध श्रमणों की भी अवज्ञा की।

इस पश्चात्ताप ने अतिमुक्त के हृदय में दिव्य भावना जागृत कर दी। उसी भावना से जीवन का अतिक्रमण कर वह उसी क्षण में मुक्त हो गया।

चित्र और सम्भूत

राजमन्त्री नमूची का अधःपतन हुआ। अतः काशी नरेश ने नमूची को प्राणदण्ड देकर डोम को सौंप दिया।

नमूची एक अच्छा गायक था। उसके मधुर कण्ठ का गीत सुनकर डोमपुत्र चित्र और सम्भूत के कण्ठ में भी गीत जाग उठा।

वीणा पर नमूची के गीत क्या थे मानो वर्षा की बूँदों से भरी नन्ही-नन्ही जूही हवा में थिरक उठी हो।

डोम उसका गीत सुनता। उसका मन कैसा-कैसा हो जाता। कुछ ऐसी अज्ञात भावनाएँ उसके मन और मस्तिष्क को झकझोर देती, जिनके विषय में उसने न कभी सोचा था न कभी समझा था। हो सकता है वे उसके अवचेतन मन में कहीं दबी हों। यही कारण था कि वह राजा की आज्ञा भी भूल गया।

परन्तु राजा की आज्ञा तो सर्वोपरि है। प्रकट रूप में उसे अमान्य करने का दुस्साहस वह नहीं कर सका। अतः सबकी आँखें बचाकर उसने नमूची को अपने घर में रखा। राज्याज्ञा है तो क्या हुआ? नमूची का प्राण इतना छोटा नहीं है। उसके वे गीत जिनकी तुलना नहीं की जा सकती क्या कोई साधारण वस्तु है? फिर वह क्यों

चिरकाल के लिए अपराधी बने। यही सोचकर उसे यह दुस्साहस करना पड़ा।

एक और घटना घटी। नमूची का गीत सुनकर डोम के घर की स्त्रियाँ विह्वल हो उठीं। वीणा की तारों के झंकार ने जब उन्हें आकृष्ट कर लिया तो ऊँच-नीच एवं गोरे-काले का सभी भेद-विभेद समाप्त हो गया। उन स्त्रियों से भूलें होने लगी। अतः प्रचण्ड भूकम्प से जिस दिन डोम परिवार में दरारे पड़नेवाली थी, नमूची उसी दिन वहाँ से गायब हो गया। क्योंकि अब डोम के द्वारा ही प्राण जाने की आशंका थी।

नमूची चला गया किन्तु चित्र और सम्भूत का गाना बन्द नहीं हुआ। उनके मन में थीं नयी उमंगें एवं कण्ठ में थी स्वरलहरियाँ और साथ ही साथ थी गुणी को मर्यादा को प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा। ओह! क्या वे उस दिन जान पाए कि डोम के घर वाणी की साधना को सहन करने की क्षमता उन दिनों किसी में नहीं थी। जो भी उनके गीत सुनते मुग्ध हो जाते, किन्तु ज्योंही जान पाते कि ये गायक डोम हैं, छीः छीः कर उठते। सभी कहने लगते, पता नहीं आगे जाकर क्या होगा! इन्हें प्रश्रय देना कदापि उचित नहीं। देश के प्रमुख शिरोमणि तक यही कहते, ऐसा तो न कभी आँखों देखा, न कानों सुना। इन्हें गीत गाने से रोकना ही चाहिए। एक डोम की इतनी हिम्मत!

तदुपरान्त सहसा न जाने कौन आया और वीणा के तारों को इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डाला जैसे बाज पक्षी कबूतर पर झपट पड़ा हो। गीत बन्द हो गए।

किन्तु चित्र और सम्भूत के हृदय में अग्नि की लपटें उठने लगी। जैसे भी हो डोम होने की जो पाषाणी प्राचीरें उन्हें चारों ओर से घेरे हुए हैं उसे ध्वंस करना ही होगा।

उस दिन समस्त रात्रि आँधी चलती रही। उसी झंझावात के मध्य किसी की दीर्घ निःश्वास तो डोम के कानों में पड़ी, किन्तु उठना चाहकर भी वह उठ न सका। सोचा, जो नव किसलय हवा में स्थिर नहीं हो पा रहे हैं, शायद उन्हीं का यह शब्द है। अतः पुनः वह सो गया।

दूसरे दिन प्रभातकालीन सुनहली किरणों ने जब डोम के आँगन में प्रवेश किया तब चित्र और सम्भूत को कहीं नहीं पाया गया।

फसल के खेतों को चीरती हुई जो राह पर्वत के बगल से विस्तृत थी उसी राह पर वे चल रहे थे। कुछ करेंगे अवश्य किन्तु क्या? यह वे अभी तक सोचकर भी सोच नहीं पाए थे। अकस्मात पर्वत पर उनकी भेंट हुई एक आचार्य से। उनके प्रशान्त मुख मण्डल से एक दिव्य ज्योति छिटक रही थी। उन्होने इनकी दर्दभरी कहानी सुनी, और मुस्कुराते हुए बोले, कहाँ है वह दीवार? कहीं नहीं है। यह तो तुम्हारा भ्रम मात्र है। आचार्य ने उन्हें दीक्षा दी और दिया प्राणों का संजीवन मन्त्र।

अब वे विश्व के समस्त सुर ताल छन्द और गति को अपने में ही अनुभव करने लगे।

इसीलिए अब वे प्राचीरें कहीं नहीं रही। समाप्त हो गया था मानव का मानव से विभेद और टूट गयी वे देश और विदेश की संकीर्ण सीमाएँ। अब तो सभी के साथ उन्होंने तादात्म जो स्थापित कर लिया था।

अब नमूची थे हस्तिनापुर के राजमंत्री। भिक्षु चित्र और सम्भूत हाथ में भिक्षा पात्र लिए आ खड़े हुए उनके प्रासाद के सन्मुख। यह दैव इच्छा ही तो थी।

नमूची लज्जा से लाल हो उठा। वह सोचने लगा कहीं ये उसके अधःपतन की बात न खोल दें। अतः नमूची की आज्ञा से उसके अनुचर उन्हें चण्डालपुत्र कहकर लज्जित करते हुए परिखा के उस पार छोड़ आए।

भिक्षु चित्र का हृदय तो इस अपमान से विचलित नहीं हुआ। क्योंकि उसका मन था शुभ्र और निर्मल। अतः उसने तो सहज भाव से ही क्षमा कर दिया। किन्तु सम्भूत के लिए ऐसा करना सम्भव न हो सका। उसका मन तो उनके प्रति आक्रोश से भरा रहा जिन्होंने उन्हें घृणापूर्वक दुत्कारा था। अतः नमूचीकृत अपमान उसे काँटे की तरह चुभ रहा था।

सम्भूत के मन में तपस्या का गर्व था। वह अन्याय नहीं सहेगा जिन्होंने अन्याय किया है उन्हें और समग्र हस्तिनापुर को वह तपःलब्ध शक्ति से जलाकर राख कर देगा।

किन्तु एक क्षण के लिए भी वह नहीं सोच पाया कि उन्हें जलाकर राख कर देने पर उसकी उपवास क्लिष्ट तपस्या की समस्त सार्थकता ही नष्ट हो जायेगी।

सनत्कुमार थे उस समय हस्तिनापुर के चक्रवर्ती सम्राट। उन्होंने जब यह बात सुनी तो स्थिर न रह सके। राजदण्ड फेंककर साधु के निकट जा पहुँचे। और सभी की ओर से क्षमा प्रार्थी हुए।

सम्भूत क्षमा करने को बाध्य हुआ। किन्तु उसका मन विचलित था। अतः धैर्य खोकर वह एक नयी मोड़ लेने को विवश हो गया।

चक्रवर्ती सम्राट ! जिन्हें किसी बात का अभाव नहीं। कितना बड़ा परिवार, कितने दास-दासी, कितना धन-रत्न। सम्भूत सोचने लगा यदि कुछ पाना ही है तो पाना चाहिए चक्रवर्ती के इस ऐश्वर्य को। बस, मुझे तो यही चाहिए।

मृत्यु के पश्चात नवीन जीवन प्राप्त किया चित्र और सम्भूत ने। कामना के द्वारा जिस परिवेश की रचना सम्भूत कर बैठा था वह उसी में आबद्ध रहा। अतः उसका साथ छूट गया चित्र से।

वही सम्भूत अब कम्पिलपुर के चक्रवर्ती महाराजा ब्रह्मदत्त है। वह भी एक दिन था और आज भी एक दिन है।

जातिस्मरण ज्ञान होने पर सहसा उन्हें चित्र की याद हो आयी। उनका मन उससे मिलने को अधीर हो उठा। पर वह आज है कहाँ ? हजारों वर्ष के अन्तराल का अतिक्रमण होना क्या सम्भव नहीं है ? अवश्य सम्भव है।

सम्भूत ने कविता लिखी, किन्तु लिखा मात्र प्रथम चरण। जो द्वितीय चरण पूरा करेगा उसे वे आधा राज्य देंगे।

राज्य के लोभ से कितने ही कवि आये और कितने ही छन्दाचार्य। सभी द्वितीय चरण को मिलाने का प्रयत्न करते किन्तु मिला नहीं पाते राजा के मनोनुकूल। अतः लज्जित होकर लौट जाते। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गए।

राजा की दृष्टि एक ध्यानमग्न तरुण तापस पर पड़ी।

एक दिन राज-उद्यान का माली आया। बोला, प्रभो! मैं पूरी करूँगा कविता।

राजा ने कहा, ठीक है।

माली ने जो पूर्ति दी वह राजा के मनोनुकूल थी। आषाढ के नीर भरे आकाश की भाँति उनकी दोनों आँखें छलछला उठीं। स्निग्ध कंठ से पूछा, क्या तुमने की है यह पूर्ति?

माली उन्हें उद्यान में ले गया। राजा की दृष्टि एक ध्यानमग्न तरुण तापस पर पड़ी।

कौन चित्र! हाँ हाँ, यह चित्र ही तो है।

चित्र ने दृष्टि उठायी। उस दृष्टि में थी असीम करूणा, असीम तृप्ति।

सम्भूत ने कहा, तुम्हारी यह तपःक्लिष्ट देह और यह मुनिवेश मैं देख नहीं सकता। तुम्हारी सुकोमल देह के लिए यह शोभनीय नहीं है।

चित्र ने पुनः मुस्कुराते हुए कहा, मुझे तो इसमें कोई कष्ट नहीं है।

किन्तु मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता। अब आधा राज्य तुम्हारा है।

चित्र ने हँसकर कहा, क्या तुम मुझे इस प्रकार पकड़कर रख सकोगे? जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न देखता है, उसी प्रकार का है यह भी एक स्वप्न। न जाने कब टूट जाय। फिर तो इसका कोई चिन्ह भी शेष नहीं रह जायेगा। क्या करूँगा मैं स्वप्न देखकर। मैं तो देख रहा हूँ उस शाश्वत सत्य को जिसे पाकर कुछ पाने की कामना ही नहीं रह जाती। तुम भी आओ ना! क्या तुम्हारा मन उसे पाने को नहीं करता?

अर्थात उस शून्य की प्राप्ति, जब कुछ भी पाने की इच्छा ही न हो।

नहीं, पूर्णता की प्राप्ति। आखिर कितने दिन पाने न-पाने के इस द्वन्द में तुम पड़े रहोगे? यही है दुःख और यही है माया का बन्धन। तुम्हारे सामने है अमृत। क्या तुम इस अमृत का पान करना नहीं चाहते?

यह सब झूठ है। भ्रम है।

दोनों का मन मिल न सका। भला मिलता भी कैसे। आज उनके मध्य भोग और त्याग की लक्ष-लक्ष योजन की दूरी जो है।

चित्र चला गया सुख-दुःख की सीमा पारकर अनन्त प्रकाश पुंज के मध्य।

और सम्भूत पड़ा रहा नदी के इसपार जहाँ कामना का असह्य दंश है, भोग की अतृप्ति से जहाँ का आकाश आकुल है।

चिलाती-पुत्र

उस समय राजगृही में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं था जिसने श्रेष्ठी धनदत्त का नाम नहीं सुना होगा। सारे देश में उनकी ख्याति थी, सर्वत्र वे मान्य थे।

चिलाती इसी श्रेष्ठी परिवार की एक क्रीतदासी थी। अपने विनय, अपने कार्य-नैपुण्य के कारण वह इतनी सुपरिचित हो गई थी कि लोगों की जिह्वा पर उसके पुत्र का नाम मानो खो-सा गया था, सभी उसे चिलाती-पुत्र के नाम से ही जानते थे। उस दासी के नाम-गौरव से ही वह हमारे निकट परिचित है।

इसीलिए श्रेष्ठी-कन्या सुषमा के साथ-साथ उसका लालन-पालन हुआ। उस समय कुल-मर्यादा का ध्यान किसी को नहीं आया।

इसके बाद अनेक दिन बीत गए। चिलाती की मृत्यु हो गयी थी और उसी के साथ अस्त हो गया था चिलाती-पुत्र का सौभाग्य-सूर्य। अब श्रेष्ठी परिवार के बहुत से अन्य लोगों की भाँति ही वह भी एक था। किसी ने भी उसे विशेष रूप से मन में स्थान नहीं दिया।

किन्तु हाँ, सुषमा के मन में उसके लिये विशेष स्थान था। उसकी याद आते ही वह अन्यमनस्क सी हो जाती, चमक उठती एवं लजा जाती।

उनका बहुत पुराना परिचय था। कितनी बार एक साथ रहे, मिले बातचीत की। कितने साध, कितने स्वप्न सजाए थे उसने उसी आधार पर! जाति-भेद का तो कभी प्रश्न ही उसके मन में नहीं उठा।

चिलाती-पुत्र को भी सुषमा से प्रेम था। किन्तु उसका मन था अशिक्षित, दुर्दम, चंचल। अनिर्देश्य कामना के तप्तवाष्प से उत्तप्त! इसी कारण सुषमा जो कुछ चाहती थी, वैसा वह कुछ कर नहीं पाता। वह तो अपनी ही मस्ती में, विभिन्न मित्रों के साथ नगर के बाहर दिन व्यतीत करता रहता। खाने के समय भी कभी आता, कभी नहीं।

धीरे-धीरे रात को लौटने में भी उसे देर होने लगी। सुषमा बैठी-बैठी उसकी राह देखती रहती। दिन का सूर्य अस्त होकर सन्ध्या हो जाती, रात्रि के तारे धीरे-धीरे सर पर आ जाते। किन्तु निष्प्रभ नयन की करुण-कामना के अनिमेष निहारने का अन्त नहीं होता।

एक ऐसा ही वैशाख था। चिलचिलाती धूप में छाया का लेशमात्र भी नहीं था। सुषमा उसका भोजन लिये बैठी थी।

अरहट का पानी नाले में झरझर-झरझर बहा जा रहा था। उसी नाले में पंख भिगोकर एक कौआ टूटी मुंडेर पर आ बैठा। फिर न जाने क्या सोचकर लगा काँव-काँव करने।

सुषमा का मन था तिक्त-विरक्त। हवा क्या थी मानों अग्निशर। इसी समय आया चिलाती-पुत्र, कर्कश-कण्ठ से प्यास बुझाने के लिये पानी माँगा।

क्षणमात्र के लिये सुषमा के धैर्य का बाँध टूट गया। रूक्ष स्वर में बोली, तुम्हारे मित्र तुम्हें पानी भी न दे सके?

श्रेष्ठी उस दिन घर में ही थे। यह बात उनके कानों में पड़ी। उन्होंने सुषमा को पुकार कर कहा, उसे कह दे कि वह यहाँ से चला जाय और भविष्य में भूलकर भी मेरे घर में पैर न रखे। जो अविनयी होते हैं उनकी छाया से भी पाप लगता है।

अश्रुजल में सुषमा का हृदय धुल गया, किन्तु वह चिलाती-पुत्र को शान्त नहीं कर सकी। जल की एक घूँट लिए बिना ही वह सुषमा के हाथ झटक अंधड़ को भाँति निकल गया। जाते-जाते कह गया चाहे जैसे भी हो श्रेष्ठी के घर से एक दिन वह सुषमा को अवश्य ले जाएगा। देखें, कौन उसे रोक सकेगा।

तदुपरान्त सचमुच ही एक दिन दलबल सहित भेरी बजाता हुआ चिलाती-पुत्र आया। श्रेष्ठी मोहल्ले में भयंकर कोलाहल मच गया। इसके बाद राजप्रहरियों के आने के पूर्व ही उसके साथी पहाड़ी पथ से वन के अन्धकार में धन-रत्न लेकर अदृश्य हो गये। साथ ही सुषमा को भी घर पर नहीं पाया गया।

कितनी भयानक थी वह रात्रि। आकाश काले मेघों से आच्छन्न था, घनघोर वृष्टि की सम्भावना थी। श्रेष्ठी को खबर मिली कि चिलाती-पुत्र सुषमा को लेकर पहाड़ से सटा हुआ जो रास्ता वन की ओर गया है, उधर ही अकेले निकल गया है। क्रोध से श्रेष्ठी का मुख लाल हो उठा। फिर क्षणमात्र की भी देर किए बिना घोड़े पर सवार होकर वे उधर ही सरपट दौड़े। उनके साथ कई सशस्त्र रक्षक भी थे। सूँ सूँ करके आँधी आ रही थी, साथ ही हो रही थी वर्षा।

रह-रहकर बिजली भी जोर से चमक उठती थी। दूर-दूर को घूमता हुआ रास्ता भी जैसे खो गया था।

उसी जंगल की राह पर सुषमा को चिलाती-पुत्र लिये जा रहा था। उस गहन अन्धकार में मात्र जुगनू का प्रकाश रह-रहकर झिलमिला उठता था। पहाड़ी हवा थी बर्फ जैसी ठण्डी।

हठात् मेघ गर्जन के साथ ही कड़कड़ाकर बज्रपात हुआ। दोनों चौंक उठे। उन्होंने देखा श्रेष्ठी रक्षकों के साथ पहाड़ पर चढ़े आ रहे हैं।

मारे भय के सुषमा के कदम आगे नहीं उठ सके। ओह ! कहती हुई संज्ञाहीन होकर वह धरती पर गिर पड़ी।

चिलाती-पुत्र ने उसे अपनी बाँहों में उठा लिया। किन्तु श्रेष्ठी अब बहुत दूर नहीं थे।

चट्टानों की रगड़ से पैर छिल गये, मारे सर्दी के हाथ ठिठुर गए, फिर भी वह चलता रहा। किन्तु पथ था अन्तहीन। बिजली की चमक में जिन्हें उसने पहाड़ के नीचे देखा था, भींगी मिट्टी में उन्हीं के पैरों की छप-छप ध्वनि अब सन्निकट आ रही थी। सुषमा को छोड़कर भागना मुश्किल नहीं था। किन्तु उसे छोड़कर जानेको मन प्रस्तुत नहीं हो रहा था। फिर इस प्रकार छोड़ जाने का अभिप्राय होता श्रेष्ठी के सम्मुख हार मानना और वह हार मानेगा नहीं।

संज्ञाहीन सुषमा को धीरे-धीरे जमीन पर सुलाकर उसने कसकर तलवार पकड़ी। क्षणमात्र के लिए वन में खिले हुए वनफूल की सुगन्ध बहती हुई आयी और फिर न जाने कहाँ खो गयी।

चिलाती-पुत्र की दोनों आँखें जल उठीं। फिर न जाने कब और

कैसे उसके हाथ की तलवार जा पड़ी सुषमा के गले पर। समस्त पथ रक्त से रंग उठा।

स्कन्ध रहित शरीर पड़ा था पगडण्डी के किनारे। और चिलाती-पुत्र सुषमा के कटे सिर को छाती से लगाए विलीन हो गया अरण्य के अन्धकार में।

श्रेष्ठी ज्योंही वहाँ पहुँचे, थमक कर खड़े रह गये। विद्युत के क्षणिक आलोक में मेघ की काली छाया से घिरा पहाड़ उनकी दृष्टि में और भी भंयकर काला हो उठा। अब आगे जाना व्यर्थ था, अतः वहीं से वे लौट गये।

उमी दूर्योगपूर्ण रात्रि के गहन अन्धकार में भी जंगल में एक पेड़ के नीचे एक श्रमण ध्यानस्थ खड़े थे। चिलाती-पुत्र उनके सामने आ खड़ा हुआ और वोला, वताओ धर्म क्या है? नहीं तो मैं तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दूँगा।

श्रमण ने पलकें उघार कर देखा। सम्मुख खड़ा था नंगी तलवार लिए वीभत्स चिलाती-पुत्र। उनके मुखमण्डल पर प्रशान्त हँसी खिल उठी। उनकी दिव्यदृष्टि के सामने उसका वाहरी आवरण नहीं था। उस दृष्टि ने प्रवेश किया था चिलाती-पुत्र के उस अन्तर में जो कि विमूढ़ होते हुए भी प्रचण्ड शक्तिशाली था।

उस क्षण मेघ की भीषण गर्जन से वन रह-रहकर काँप रहा था। डैनों से झपट्टा मारते हुए पक्षियों की भाँति वृक्षों की शाखाएँ टूट-टूटकर गिर रही थी। तभी गहन वन के उस पार, दूर, वहुत दूर, न जाने किस की वाँसुरी वज उठी। मन व्याकुल सा हो गया। पंख फड़फड़ाते हुए पक्षियों
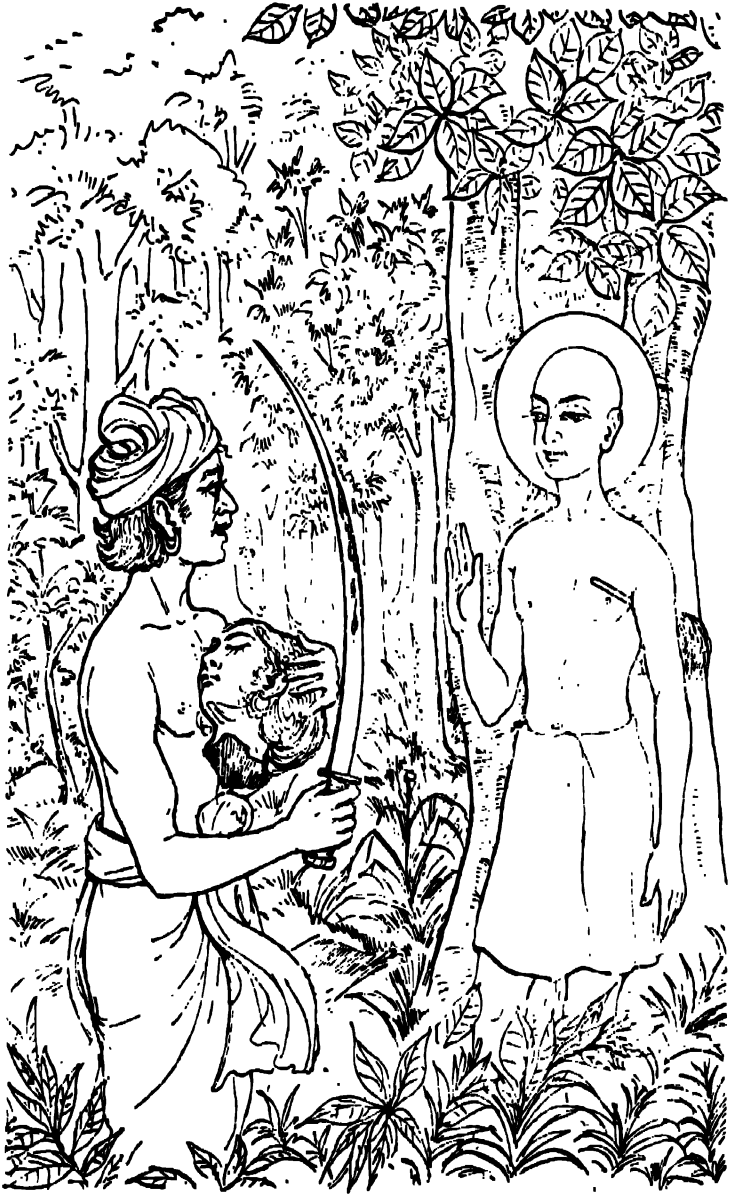
बताओ धर्म क्या है ? नहीं तो मैं तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दूँगा ।

की भाँति ही वह भी मुक्त होना चाह रहा था संसार की जटिलताओं से, जंजालों से।

महाश्रमण की उस दिव्यदृष्टि से चिलाती-पुत्र का समस्त अन्तर उसी प्रकार धुल गया जिस प्रकार चन्द्र रश्मियों से धुल जाता है आकाश। उसने उनकी अमृतमयी वाणी सुनी—उपशम, संवर, विवेक। वह वाणी उतर गयी उसके हृदय की गहराई में, छा गई उसके तन-मन पर। हाथ की तलवार उसने दूर फेंक दी एवं असावधानी वश छाती से चिपका मुण्ड गिर पड़ा धरती पर।

किन्तु श्रमण फिर दिखलायी नहीं पड़े।

चिलाती-पुत्र का हृदय विस्मय से भर उठा। वह वहीं आकर खड़ा हो गया जहाँ पहले महर्षि खड़े थे। प्रारब्ध के जिन संस्कारों ने उसे दुष्प्रवृत्ति द्वारा इस जघन्य कार्य के लिए प्रेरित किया था वह संस्कार क्षय हो गया। अतः हृदय में जाग पड़ी अनुशोचना, आत्मानुसन्धान।

संस्कारों को ही वह अब तक अपनी इच्छा मान बैठा था! और उसी इच्छा के वशीभूत होते हुए उसने निःसंकोच होकर हत्या की थी, प्रफुल्लित होकर देखा था अनेकों को विनष्ट होते। आनन्दित हो उठता था नारियों की व्यथा के मर्मस्थल को आघात पहुँचाकर। वह सोचने लगा—कहाँ है तब क्रोध की उपशान्ति? कहाँ है तब रागद्वेष के प्रवाह का निरोध? कहाँ है शिवतम् रूप की अनुभूति? इसी भाँति आत्मविचार करते करते चिलाती-पुत्र समाधिस्थ हो गया।

चिलाती-पुत्र का समस्त शरीर रक्तारक्त था। उसी रक्त की गन्ध पाकर वन के भीषण चींटों का पंक्तिबद्ध दल उस ओर आने लगा।

खोंच-खोंचकर माँस नोचने के पश्चात् वे प्रवेश कर गये उसकी हड्डियों में, मज्जा में। माँसभक्षी पशु बाहर निकली हुई हड्डियों को दांतों से काटने लगे। नोच-नोचकर ले गये लटकती हुई शिराओं को, उपशिराओं को। किन्तु चिलाती-पुत्र था निस्पन्द, सांसारिक अनुभवों से रहित।

वह उस समय प्रतिष्ठित था सुख दुःख से अतीत शान्ति के अक्षय अधिकार में।

कपिल

कोशाम्बी के राज पुरोहित जब पालकी पर आसीन होकर पथ पर निकलते तब कपिल की माँ की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती।

यह देख कपिल ने एक दिन अपनी माँ से पूछा, माँ, तुम क्यों रोती हो?

माँ ने कहा, बेटा, उस पालकी पर तुम्हारे आसीन होने की बात थी किन्तु जब तुमने लिखना-पढ़ना नहीं सीखा, मूर्ख ही बने रहे तब तुम्हारी जगह उस पालकी पर कोई दूसरा आसीन हुआ; इस लिए जब भी उस पालकी को देखती हूँ तो सहसा रो पड़ती हूँ।

कपिल लज्जित हो उठा। बोला, माँ, अब मैं लिखना-पढ़ना सीखूँगा।

माँ ने कहा यह तो आनन्द की बात है। तुम्हारे ऊपर वे कीचड़ उछालते हुए जाते हैं यह सहा नहीं जाता।

तदुपरान्त लिखना-पढ़ना सीखने के लिए कपिल श्रावस्ती चला गया, और आचार्य इन्द्रदत्त से पढ़ना-लिखना प्रारम्भ किया।

वह पढ़ने के लिए इन्द्रदत्त के यहाँ जाता और खाने के लिए श्रेष्ठी शालिभद्र के घर।

प्रथम तो कपिल ने अध्ययन में प्रगति की किन्तु बाद में वह एका-एक रुक गयी।

तरुणाई की अपरिमित चंचलतावश कपिल शालिभद्र के अन्तःपुर की किसी युवती से प्रेम करने लगा। अतः जब मुग्धबोध की पुस्तक लेकर उसे इन्द्रदत्त के सम्मुख बैठना पड़ता, उसका मन पुस्तक के पृष्ठों पर टिक नहीं पाता।

कपिल की यह अन्यमनस्कता इन्द्रदत्त के जिस दिन नजर में आयी उस दिन बाहर वर्षा हो रही थी। इन्द्रदत्त ने कपिल से पूछा, कपिल, इतना क्या सोच रहे हो?

मेघ की छाया में, वर्षा की रिमझिम में, वह क्या सोच रहा था यह कहना कठिन था। तमाल वृक्ष की शाखा पर भींगे डैनेवाले पक्षी को देखकर उसे लगता था कि उस लड़की की बड़ी-बड़ी आँखें भी ऐसी ही अचंचल हैं। किन्तु यह बात उन्हें कैसे बताता।

आचार्य ने उसकी भर्त्सना की।

कपिल का अभिमान जागा। उस दिन जो भोजन करने गया तो पुनः नहीं लौटा। जिस लड़की से वह प्रेम करता था उसे लेकर कहीं अन्यत्र चला गया।

अब शुरु हुई कपिल की नवीन जीवन यात्रा।

पर उन दिनों के प्रेम के साथ दिन प्रति दिन का प्रेम मिल न सका

कारण उस दिन की वह असाधारण लड़की अब अत्यन्त साधारण होकर उसके सामने आई।

अतः जब उसने प्रेम के प्रतिदान में स्वर्णहार, पैरों की पायल एवं रक्तांशुक का परिधान माँगा तब कपिल को लगा कि यह प्रेम नित्य की नीरसता को दूर करने का एक असफल सा प्रयास मात्र है। उसका मन इसकी अतृप्ति से बोझिल हो उठा। मन ही मन सोचने लगा, कितना छोटा है उसका हृदय!

दिन भर अथक परिश्रम के पश्चात् कपिल घर लौटता। किन्तु ला न पाता स्वर्णहार, एक जोड़ी पायल एवं रक्तांशुक के परिधान।

तभी उसने धन श्रेष्ठी की चर्चा सुनी। सबसे पहले जो उनके द्वार पर पहुँचता है उसे वे दो माशा स्वर्ण दान करते है। कपिल को लगा जैसे पूरब में नीले पहाड़ की चोटी पर सूर्योदय हो रहा है। देवदारु की शिशिर कणों से भीगी पत्तियों की झालर से छनकर आती हुई किरणें जैसे प्रिया के गले में पहने हुए स्वर्णहार पर झिलमिला रही है। उसके पैरों में पायल एवं रक्तांशुक के घूँघट में उसके सुन्दर मुखमण्डल पर सलज्ज हँसी की आभा निखर आई है। उस रात कपिल सो न सका। अतः तारों से भरी अन्धेरी रात्रि में वह निकल पड़ा।

उस रात अन्धेरी राह पर वही एक मात्र राही था। एतदर्थ कोत-वाल ने न जाने क्या सोचकर उसे पकड़ लिया एवं दूसरे दिन उसे राज-सभा में उपस्थित किया।

उसकी समस्त बातें सुन कर राजा ने कहा, कपिल मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया। बोलो अब तुम्हें क्या चाहिए?
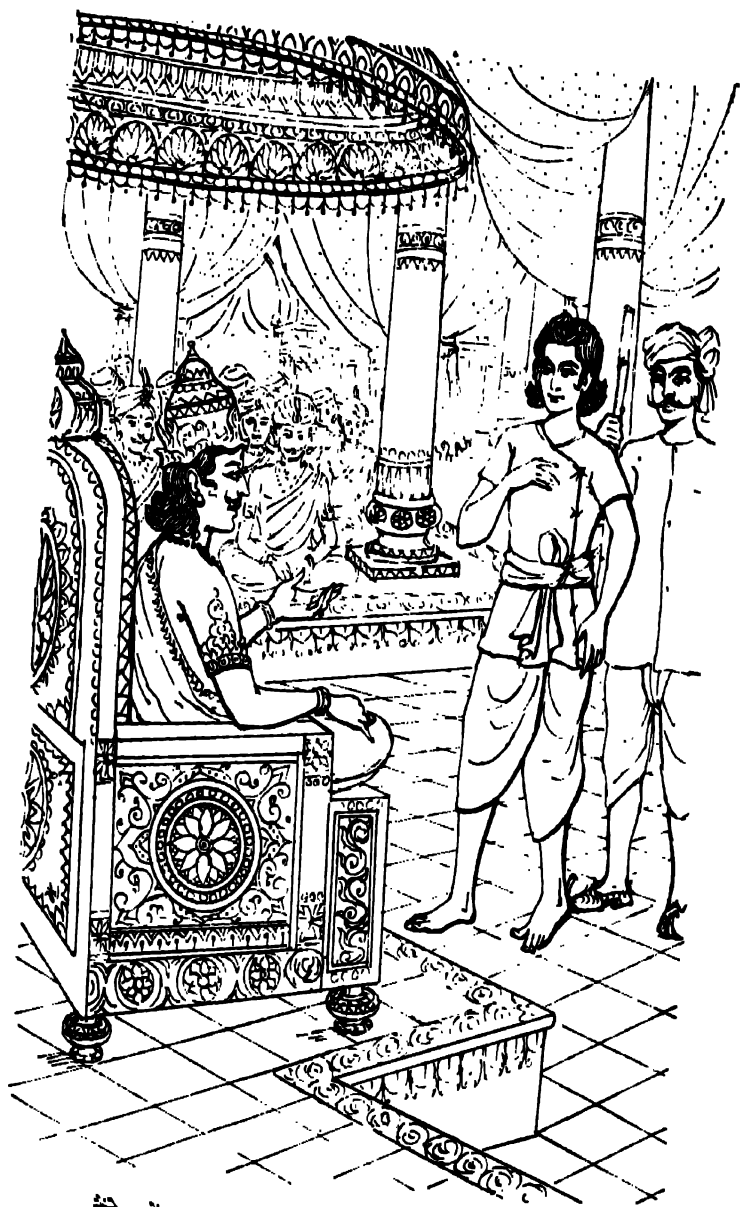
मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया। बोलो अब तुम्हें क्या चाहिए?

यह सुनकर कपिल सोचने लगा वह राजा से स्वर्णहार, एक जोड़ी पायल एवं रक्तांशुक के परिधान क्यों न माँग ले ? किन्तु तभी विचार आया जब राजा से ही माँगना है तब इतना ही क्यों माँगे। दैनन्दिन जीवन-यात्रा के धूलि-धूमरित दारिद्र्य को मिटा देने के लिए उसे चाहिए अधिक, बहुत अधिक, हो सकता है यह समस्त राज्य भी।

राजा ने पुनः प्रश्न किया, कपिल ! क्या चाहिए तुम्हें ?

कपिल कहने जा रहा था कि समस्त राज्य, किन्तु, हठात् वह रुक गया। क्या माँगना चाहता है वह ? समस्त राज्य ? क्षण मात्र के लिए कपिल की दृष्टि से प्रकाश पर आया हुआ आवरण सरक गया।

वह सोचने लगा, हमारे समस्त दुःखों का उद्गम ही तो है यही कामना और यदि इस कामना को ही अ-कामना में रूपान्तरित किया जाय तो सर्व कामनाएँ एकबारगी ही शेष हो जायँ और तभी प्राप्त होगा वह आनन्द, जिस आनन्द की कोई सीमा नहीं।

राजा ने फिर प्रश्न किया, बोलो कपिल ! तुम्हें क्या चाहिए ?

कपिल राजा की ओर देखने लगा। बोला, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।

इसके बाद फिर कपिल घर नहीं लौटा। जो राह पर्वत के बगल से घने वन की ओर विस्तृत थी, उसी राह पर वह चल पड़ा।

आर्द्रककुमार

अनार्य देश के राजपुत्र की ओर से जब भेंट आयी तब मगध राजकुमार ने न जाने क्या सोचकर भगवान ऋषभदेव की छोटी-सी स्वर्ण-प्रतिमा आर्द्रककुमार को भेज दी।

अनार्य आर्द्रककुमार ने विभिन्न प्रकार से अनेक बार उस प्रतिमा को देखा। किन्तु कुछ निश्चय नहीं कर पाया कि इसे लेकर वह क्या करे। वह बार-बार यही सोच रहा था कि यह किस अंग का अलंकार है।

ऐसा सोचते-सोचते अचानक उसकी दृष्टि प्रतिमा पर स्थिर हो गयी। उस क्षण आर्द्रककुमार का समस्त सत्व जैसे एक साथ बोल उठा, इन्हें मैं जानता हूँ। उस समय कहीं भी उसकी दृष्टि में अस्वच्छता नहीं थी।

देश-काल की सीमा को पारकर जिस दिन मनुष्य निरवच्छिन्न मैं को देखता है उस दिन स्थिर नहीं रह पाता। उसे यह संसार असह्य प्रतीत होता है।

आर्द्रककुमार का भी वही हाल हुआ। उसने कहा, मैं श्रमण दीक्षा लूँगा। मैं भारतवर्ष की यात्रा करूँगा।

किन्तु जाऊँगा बोलने से ही कुछ नहीं हो जाता। जाने के लिये अनार्यराज की अनुमति आवश्यक थी।

आर्द्रककुमार को पिता की अनुमति नहीं मिली।

उन दिनों समुद्रपथ से यातायात सुगम था। इसके लिए आनार्यराज की अनुमति आवश्यक थी। किन्तु जब उन्हें अनुमति नहीं मिली तो स्थल पथ से ही उसने भारतवर्ष जाने का निश्चय किया। चाहे वह पथ कितना ही दुर्गम क्यों न हो।

किन्तु आर्द्रककुमार की इस भावना में भी बाधा आयी। अनार्यराज ने केवल मुंह से ही ना नहीं किया था बल्कि आर्द्रककुमार ने देखा कि जहाँ भी वह अब जाता है घोड़े पर चढ़कर लोग उसके साथ जाते हैं।

ऐसा ही है संसार का मायाजाल। आर्द्रककुमार सोचने लगा, कैसी विडम्बना! किन्तु मुंह से उसने कुछ नहीं कहा मानो इस परिस्थिति को जैसे उसने स्वीकार कर लिया।

तत्पश्चात दिन बीते, महीने बीते। आर्द्रककुमार निश्चेष्ट एवं निश्चिन्त था। कितनी बार ऐसा हुआ कि आर्द्रककुमार घोड़े पर खूब दूर जाकर पुनः लौट आया।

उनलोगों ने सोचा कि श्रमण होने की वह भावना अब एकदम फीकी पड़ गयी। वह केवल एक विलास था। भला राजपुत्रों को क्या शोभा नहीं देता। अतः उनके कार्य में शैथिल्य आ गया।

आर्द्रककुमार ने देखा कि यही अवसर है। तदुपरान्त एक दिन वह सबके अनजाने में भारतवर्ष की ओर चल पड़ा।

बसन्तपुर के उद्यान में उस दिन श्रेष्ठी कन्या अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी।

दिगन्त में उस दिन प्रथम श्रावण का आगमन हुआ था। उसी की छाया मानो घनीभूत होकर श्रेष्ठी कन्या की काली-काली आँखों में उतर आयी थी।

उस ओर देखकर सहेलियों ने न जाने क्या सोचा। फिर बोल पड़ी, आओ, जिसे जो पसन्द आये, वह उसको वरण कर ले।

किसी ने वरण किया लता को, तो किसी ने वरण किया वनस्पति को और उस लड़की ने वरण किया आर्द्रककुमार को।

आर्द्रककुमार का ध्यान भंग हुआ। वह उस लड़की की तरफ अवाक होकर देखने लगा। फिर उठकर चल दिया। उस दिन किसी ने भी न उसके जाने में बाधा दी, न पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं।

इसके बाद जब वह लड़की बड़ी हुयी, लोग उसका सम्बन्ध लेकर आने लगे। उस लड़की ने न जाने क्या सोचा और एक दिन श्रेष्ठी के पास आकर बोली, पिताजी, मेरा विवाह किसी के साथ नहीं हो सकता। क्योंकि, जब मैं छोटी थी तभी मैंने वरण कर लिया था एक श्रमण को।

सारी बात सुनकर श्रेष्ठी हँस उठे। बोले, अरे, वह तो अनजान में किया गया एक खेल था।

किन्तु श्रेष्ठी ने इस घटना को जितनी छोटी समझा था, वह उतनी छोटी नहीं थी। उन्हें अपनी भूल तब प्रतीत हुयी जबकि उस लड़की ने

जवाब दिया, उससे क्या हुआ ? लड़कियाँ अपना वर दुबारा वरण नहीं करती।

श्रेष्ठी अब चिन्ता में पड़ गये। अपरिचित श्रमण को अब वे ढूँढें भी ता कहाँ! और ढूँढ़ने से ही क्या होगा ? क्या वह उनकी लड़की को लेकर पुनः संसार बसायेगा ?

श्रेष्ठी को चिन्तित देखकर लड़की ने कहा, पिताजी, आप चिन्ता न करें। आप केवल एक अतिथिशाला खुलवा दें। वरण करते समय मैंने उनके पैरों में पद्मचिह्न देखा था। वह मुझे अब भी याद है। अतिथिशाला में जितने भी श्रमण आयेंगे, उनके पैरों को देखकर पद्मचिह्न द्वारा मैं उन्हें अवश्य पहचान लूँगी।

श्रेष्ठी ने दीर्घ निःश्वास लेते हुये कहा, वे श्रमण फिर लौटेंगे, यह निश्चित थोड़े ही है ?

लड़की ने कहा, मेरा मन कहता है कि वे अवश्य आयेंगे।

कोई दूसरा उपाय भी तो न था। अतः श्रेष्ठी ने अतिथिशाला खुलवा दी।

इसी प्रकार दिन व्यतीत होने लगे।

तदुपरान्त एक दिन आर्द्रककुमार उस अतिथिशाला में आया। उसके पैरों में पद्मचिह्न देखकर लड़की सहसा बोल उठी, मुझे मिल गये।

आर्द्रककुमार चौंक उठा। इस लड़की की बात तो वह भूल ही गया था। धीरे-धीरे सारी बात उसे स्मरण हो आयी। वह केवल एक ही श्रावण संध्या की बात नहीं थी एक और दूसरी श्रावण संध्या की भी
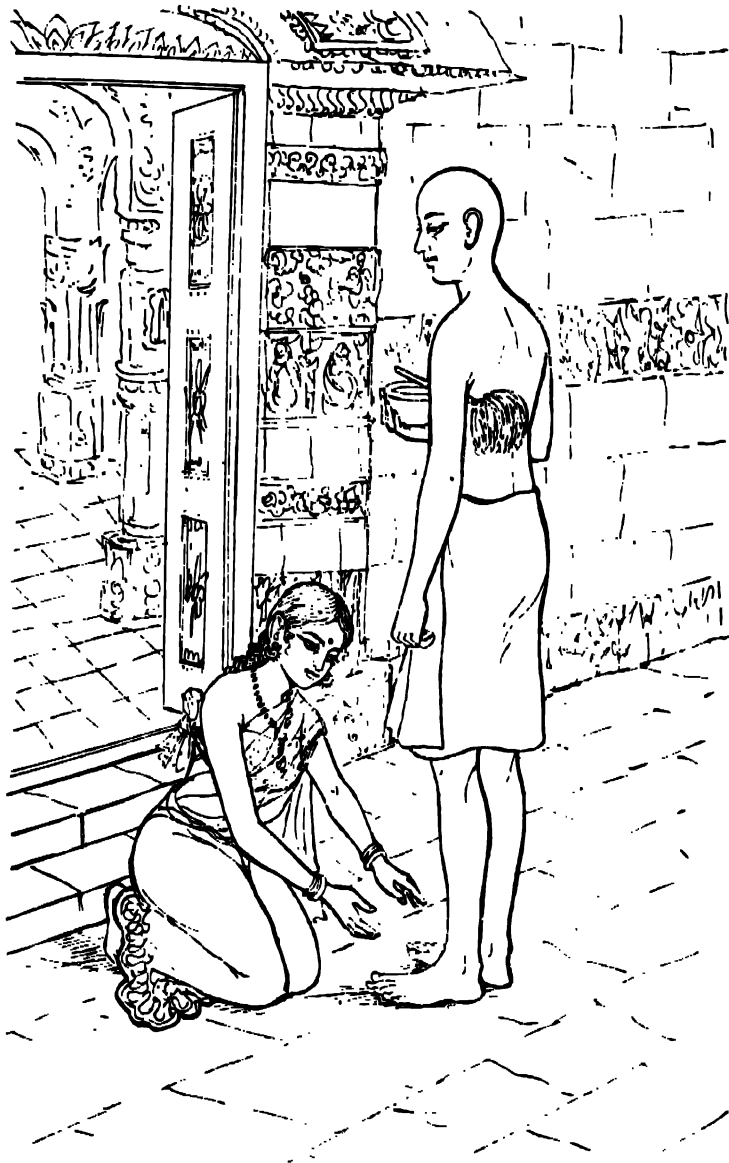
पैरों में पद्मचिह्न देखकर बोल उठी, मुझे मिल गये।

बात थी। किन्तु उस श्रावण संध्या एवं इस श्रावण संध्या में एक जन्म का व्यवधान था।

यद्यपि उस जन्म में यह लड़की उसकी सहधर्मिणी थी, फिर भी उसे सन्निकट पाने का कोई उपाय नहीं था। इसमें बाधक था श्रमण धर्म। इसी धर्म के मोह में उसने अपने निज स्वभाव को अस्वीकृत कर दिया था। विवेक जात वैराग्य से वह उसे जीत नहीं सका। निरसन नहीं कर पाया भोग के द्वारा उस कामना को। उसी कामना के कारण उसका जन्मान्तर हुआ। इसीलिये जब उस लड़की के आँसुओं से उसने अपने हृदय को पिघलते हुए देखा तो उस कामना का स्वरूप उसके सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठा।

आज धर्म का मोह नहीं है उसे। जब वह यह अच्छी तरह समझ गया कि इस कामना को विवेक से उत्पन्न वैराग्य से जय करना सम्भव नहीं है तब उसने उसे साथ लेकर घर बसा लिया।

बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन आर्द्रककुमार ने सोचा कि अब उसे संसार से मोह नहीं है, अब संसार त्याग किया जा सकता है। किन्तु तब भी उसका कुछ भोग बाकी था। अतः वह उस दिन भी संसारका परित्याग नहीं कर सका।

आर्द्रककुमार चला जायगा, यह सुन कर वह लड़की चरखे पर सूत कातने बैठी। माँ को सूत कातते देखकर पुत्र आया और बोला, माँ, तुम सूत क्यों कात रही हो?

माँ ने जबाव दिया, बेटा, तुम्हारे पिता घर छोड़कर जा रहे हैं।

यदि मैं सूत न कातूँगी, तो निर्वाह कैसे होगा? इसीलिये सूत कात रही हूँ।

माँ की बात सुनकर लड़के ने कुछ सोचा। फिर कुछ ठहर कर बोला, माँ, तुम चिंता मत करो। मैं पिताजी को बाँधकर रख लूँगा। इसके बाद सचमुच ही वह कच्चे सूत से आर्द्रककुमार को बाँधने लगा।

उन कोमल हाथों के स्पर्श एवं चपल हास्य ने आर्द्रककुमार को पल भर में ही उन्मना बना दिया। उसने देखा कि अभी भी उसका भोग शेष नहीं हुआ है। तब वह और बारह वर्ष घरमें रह गया।

तत्पश्चात बारह वर्ष व्यतीत होते ही उसका संसार खत्म हो गया। संसार खत्म होते ही वह पूर्ण निरासक्त भाव से राजपथ पर आ खड़ा हुआ ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उर्वारक स्वतः ही अपना तना छोड़ देता है।

आर्द्रककुमार अपनी राह पर चला जा रहा था। वह राजगृह के समीप पहुँचा ही था कि हस्ती-तापसों का शृङ्खलाबद्ध एक हाथी शृङ्खल तोड़कर उसकी ओर दौड़ा। सभी ने सोचा अब आर्द्रककुमार नहीं बच पायेंगे। किन्तु क्या आश्चर्य! वह हाथी आर्द्रककुमार के चरणों में अपना सिर झुकाकर वन की ओर चला गया।

राजगृह की राजसभा में जब यह खबर पहुँची तो राजा श्रेणिक तुरन्त ही आर्द्रककुमार के पास आये और प्रणाम करते हुए बोले, हे आर्य! इसका क्या तात्पर्य है?

आर्द्रककुमार हँस पड़ा। फिर अपनी सारी कथा सुनाकर बोला, मानव तो चिरकाल से ही मुक्त है। वह तभी बन्धन में है जब अपने

को बन्धनयुक्त मानता है। यही है वह कच्चे सूत का बन्धन। किन्तु मनुष्य किसी भी प्रकार अपने को मुक्त अनुभव नहीं करता। इसीलिये कच्चे सूत का बन्धन भी उसके लिये लौह-शृङ्खल से भी मजबूत हो जाता है। मुझे बन्धन मुक्त देखकर हाथी ने विचार किया कि मैं बन्धन मुक्त हूँ। और मैं बन्धन मुक्त हूँ यह विचार आते ही हाथी शृङ्खल तोड़कर अरण्य की असीम मुक्ति की ओर चला गया।

मनुष्य सचमुच ही जिस दिन यह अनुभव करेगा कि मैं बन्धन मुक्त हूँ उसी दिन वह मुक्त है।

सनत्कुमार

सनत्कुमार चक्रवर्ती राजा थे। उनका शासन अत्यन्त कठोर था। कितने ही नरेश एवं सामन्त उनके अधीन थे, जिनके किरीट रत्नों की आभा से उनके चरण चर्चित होते रहते थे।

किन्तु सनत्कुमार की ख्याति उनके चक्रवर्तीत्व के कारण नहीं बल्कि रूप के कारण थी। उनके रूप की किसी से तुलना नहीं की जा सकती थी। उस अतुलनीय रूप को जो भी देखता उसके विस्मय की सीमा नहीं रहती।

सनत्कुमार के इस रूप की ख्याति केवल मृत्यु लोक की सीमा में ही आबद्ध न रहकर स्वर्गलोक तक पहुँच गई। देवराज इन्द्र एक दिन सनत्कुमार के रूप की प्रशंसा करते-करते सहसा कहने लगे, ऐसा रूप तो देवताओं में भी नहीं देखा जाता। इस कथन को सुनकर दो देवकुमारों को उस अनुपम रूप को देखने का कौतूहल जाग्रत हुआ। वे उस रूप को देखने मृत्युलोक आये।

जिस समय देवकुमार मृत्युलोक पहुँचे, सनत्कुमार उस समय स्नान करने बैठे ही थे। अतः उनका शरीर निरावरण था। किन्तु उससे क्या हुआ? उनके शरीर की उस कान्ति को देखकर देवकुमारों के मुख से

अनायास ही निकल पड़ा, क्या यह शरीर का वर्ण है? नहीं नहीं, यह तो प्रभातकालीन स्वर्णिम रश्मियों की चमक है। वे देवकुमार विस्मित हो अपलक उस ओर देखते ही रह गए।

उनके विस्मय को मन ही मन अनुभव करते हुए सनत्कुमार अपने रूप के अभिमान में कहने लगे, अभी आपने मेरा रूप देखा ही क्या है? स्नान के पश्चात् जब मरकत मणियों का बीस लड़ा हार पहनकर राजसभा में बैठूँगा तब आप मुझे देखियेगा।

इस बात को सुनकर देवकुमार कुछ लज्जित से हो गये एवं उन्हें फिर एक बार देखने के लिए राज सभा में उपस्थित हुए।

जैसे ही वे राजसभा में पहुँचे सनत्कुमार ने उन्हें पुकार कर अपने पास बुलाया और पूछा, कहिये! क्या देखा?

देखा सरोवर में खिला हुआ सहस्र-दल कमल!

यह सुनते ही आत्म परितृप्ति का हास्य सनत्कुमार के अधरों पर फूट पड़ा। उन्होंने देवकुमार को अपने समीप बैठने को स्थान दिया।

सनत्कुमार तो बातें करते जा रहे थे किन्तु देवकुमार रह-रहकर कुछ कष्ट सा महसूस कर रहे थे। प्रथम तो सनत्कुमार समझ नहीं सके। किन्तु बाद में देवों की अवस्था उनसे छिपी न रह सकी, आखिर पूछ ही बैठे उस अवस्था का कारण।

देवकुमारों ने इस प्रश्न को टालने की चेष्टा की। किन्तु इधर था सनत्कुमार का अपरिसीम आग्रह। अतः प्रत्युत्तर देने को बाध्य होना पड़ा। उन्होंने धीमे स्वर में कहा, महाराज! यह तो हमें एक स्वर से स्वीकृत करना होगा कि आपका अलौकिक सौन्दर्य देखकर हम मुग्ध हो

गये हैं। किन्तु यह सौन्दर्य जिस देह के आश्रित है वह देह चाहे कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, मनुष्य देह ही है। उसका सब कुछ रक्त और माँस से ही निर्मित है। मानव शरीर की एक स्वाभाविक गन्ध होती है, वही गन्ध हमें पीड़ा पहुँचा रही है।

सनत्कुमार के नेत्रों की दृष्टि विस्फारित हो उठी। विस्मत दृष्टि को विस्तारित करते हुए उन्होंने प्रश्न किया, क्या गन्ध? मुझे तो कोई गन्ध नहीं आ रही?

देवकुमार हँसते हुए कहने लगे आपको वह गन्ध कैसे आयेगी? आप तो उस गन्ध के अभ्यस्त हो गए हैं।

तत्पश्चात् कुछ अधिक बात न हो सकी। वे देवकुमार भी शीघ्र ही विदा लेकर चले गए।

वे तो चले गए किन्तु सनत्कुमार के मन में एक नवीन भावना छोड़ गये। उनकी बातों ने एक क्षण में ही सनत्कुमार के रूप के गर्व को चूर-चूर कर दिया। अतः विचलित हो वे सोचने लगे जिस सौन्दर्य ने उन्हें इतने दिनों तक मुग्ध कर रखा था, मूढ़ बना रखा था, वह कितना असार है। जिस देह का इस सौन्दर्य ने आश्रय ले रखा है, उसका उपादान तो रक्त माँस जैसी कुत्सित वस्तुएँ ही तो हैं। एक कानी-कौड़ी भी तो इस देह की कीमत नहीं। जिस दिन यह देह ही नहीं रहेगी उस दिन कहाँ रहेगा यह सौंदर्य और कहाँ रहेगा उसका अभिमान? और समय? वह भी कभी टिक-कर नहीं रह सकता। क्षण-क्षण आगे ही बढ़ता है और शरीर को जीर्ण कर देता है। हो सकता है इस जीर्णता का बोध आज हमें न हो किन्तु जीर्ण नहीं हो रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पेड़

का वह पत्ता जो कि खड़-खड़ करता हुआ हवा में उड़कर जल में गिर पड़ा एवं जल प्रवाह में प्रवाहित हो गया, वह कब से पीला पड़ने लगा था? प्रथम दिन से ही तो? बस, ऐसा ही है मानव जीवन और मानव यौवन। वह भी तो पेड़ के उस सूखे पत्ते की भाँति ही काल के प्रवाह मे प्रवाहित होकर न जाने कहाँ चला जाएगा।

तदुपरान्त दिन बीते, राते बीतीं। किन्तु सनत्कुमार के हृदय को वही एक भावना मथती रही। राज्यकार्य में उनका मन नहीं लगता था, हर कार्य में उनसे भूल होने लगी।

तब कितनी रात थी? जबकि पूर्णिमा का चाँद पश्चिम दिशा की ओर ढल चुका था। एवं उसका रुपहला आलोक उनकी शय्या पर बिखरा हुआ था। सनत्कुमार उठकर खड़े हो गए। चन्दन काष्ठ से निर्मित गृह-द्वार को खोलकर घर के बाहर आए। सर्वत्र व्याप्त श्वेत ज्योत्स्ना को कुछ देर निहारते रहे। जल-और स्थल धरती और आकाश में जैसे कोई भेद नहीं था। तदुपरान्त जो पथ पहाड़ और वनों की ओर विस्तृत था उसी पथ पर चलते हुए वे आगे बढ़ गए।

उसके बाद कठोर तपस्या प्रारम्भ की। वह सुन्दर शरीर जीर्ण हो गया। उस उपवास क्लिस्ट क्षीणता में विलुप्त हो गया वह सौन्दर्य। रोगग्रस्त हो गई वह देह। किन्तु जो सौन्दर्य अमार है, उस सौन्दर्य से, उन्हें अब कोइ प्रयोजन नहीं, उन्हें तो आकांक्षा है सत्य सौंदर्य की।

तपश्चर्या में दिन बीते रातें बीती। दूर से झरने की कलकल ध्वनि प्रवाहित हो आती, वट वृक्षों के पत्तों का मर्मर हवा में विस्तृत

रूप ? रूप तो मैंने प्राप्त किया था, अब मुझे चाहिये अरूप ।

होता। अरण्य के पत्र पल्लवों के मध्य से रात के तारे झाँका करते। आकाश का प्रकाश धरती की छाया का आलिंगन करता।

सनत्कुमार को देखने एक बार पुनः वे देवकुमार आए। इस बार राज सभा में नहीं, वन में। वे सनत्कुमार की कंकाल मात्र देह को देखकर खिन्न हो उठे। कहने लगे कि वे उनका पूर्व रूप लौटा सकते हैं।

इस बात को सुनकर सनत्कुमार हँस पड़े। तदुपरान्त दाहिने हाथ का अंगूठा मुँह में डालकर उनके सामने कर दिया। अंगूठे का वर्ण था अरुणोदय की रक्तिम् आभा-सा, जिसमें से उज्ज्वलित प्रभा विकीर्ण हो रही थी।

देवकुमार सनत्कुमार के जिस रूप को देखकर कभी विस्मित हुए थे, उसी रूप को देखकर आज एक बार फिर विस्मित हो उठे। सनत्कुमार के अधरों पर स्मित-हास्य था। वे धीरे-धीरे कहने लगे, रूप? रूप तो मैंने प्राप्त किया था, अब मुझे चाहिये अरूप।

मेतार्य

चण्डालिनी अब अपने को और रोक न सकी। विवाह-घर की भीड़ को चीरती हुई वह वहाँ आ पहुँची जहाँ एकान्त में बैठा मेतार्य सप्तपदी की प्रतीक्षा कर रहा था।

श्वेत आवरण से ढँकी हुई शय्या, जिस पर बिखरे थे राशि-राशि कुन्दफूल और उन कुन्दफूलों पर झर रही थी कार्तिक-पूर्णिमा की दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना।

इसे देखकर चण्डालिनी ने न जाने क्या सोचा, फिर बोली, मेतार्य मैं तुम्हें लेने आयी हूँ।

तभी उधर से आवाज आयी, क्या कहा?

साथ ही श्रेष्ठी स्वयं आते हुये दिखायी दिये।

तुम्हारी इतनी हिम्मत!

चण्डालिनी जरा पीछे हटी और दीवाल से सटकर खड़ी हो गई उसका मुँह खुल न सका क्योंकि जिस अधिकार से वह मेतार्य को लेने आयी थी वह अधिकार वह स्वयं ही एकदिन खो बैठी थी किसी और के लिये और वह भी स्वेच्छा से। सतरह वर्ष पूर्व की बात, जिसको दो व्यक्ति के सिवाय तीसरा कोई नहीं जानता था, भला अब कौन

विश्वास करेगा उस पर ? फिर भी साहस बटोरते हुये बोली, हाँ, लेने आयी हूँ।

लेने आयी हो ? जाओ ! चली जाओ ! मैं कहता हूँ तुरन्त चली जाओ यहाँ से !

शोरगुल सुनकर घर के लोग एकत्रित हो गये। सभी पूछने लगे, क्या हुआ ?

होगा क्या ? जरा इस चण्डालिनो की हिम्मत तो देखो।

इतना क्रोध मत कीजिए सेठ। श्रेष्ठी की बात को बीच में काटते हुए मेतार्य की ओर देखकर वह बोल पड़ी, जानते हैं वह कौन है ? वह मेरा लड़का है। बार-बार मरे हुए बच्चे को जन्म देने के कारण उसी दिन इसको माँग लिया था उसने जिस दिन यह जन्मा था।

सेठ हँस पड़ा। फिर जरा सम्हलते हुये बोला, छोड़िए इसकी बात। यह तो पगली है।

नहीं, मैं पगली नहीं हूँ। यदि विश्वास नहीं है तो पूछ लो इसकी माँ से।

किन्तु माँ से इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिला।

इसके बाद पूर्णिमा का चाँद मध्य आकाश पर चढ़ आया, किन्तु श्रेष्ठी के नौबतखाने में शहनाई का मधुर स्वर गूँज न सका।

चण्डालिनी के साथ मेतार्य उसके घर आया। छोटे-छोटे लकड़ी के तख्तों से बना था वह घर, जिसमें पक्षियों का घोंसला था। पिछवाड़े में था ऊबड़-खाबड़ मैदान, जहाँ सूअर चर रहे थे।

चण्डालिनी ने घर के भीतर बिछे हुये आसन पर मेतार्य को बैठाकर समस्त रात्रि उसके मुख को निहारते हुये व्यतीत कर दी।

सुबह होते ही मेतार्य घर के बाहर आ खड़ा हुआ। बेड़े से लिपटी अनाम लता में खिले हुये अजस्र नीले फूलों को एकटक देखता रहा। ऐसा प्रतीत होता था मानों फूलों की नीलिमा एवं आकाश की नीलिमा में जैसे होड़ लगी है। यह दृश्य उसके लिये अभूतपूर्व था। फिर न जाने क्या सोचकर सामने के मार्ग पर वह चल पड़ा।

सन्ध्या की रिमझिम हवा में झरे हुये पत्तों के दीर्घ निःश्वास से वन का वातावरण जब व्याकुल हो उठा, तब भी मेतार्य घर नहीं लौटा तो दुःख एवं झल्लाहट के मारे चण्डालिनी पानी का घड़ा वहीं पटककर घर लौट आयी और मन-ही-मन सोचने लगी, सिर्फ मैं लज्जित ही हुई।

फिर बहुत दिनों तक मेतार्य का कोई पता न चला।

उसके बाद मेतार्य लौटा। सन्ध्या के समय तारों की जगमगाती हुई रोशनी में जब दीपावली सी प्रतीत हो रही थी, वह आ खड़ा हुआ राजा के सम्मुख।

राजा ने कहा, कौन हो तुम? क्या चाहिये तुम्हें?

मैं मेतार्य हूँ। मुझे राजकन्या चाहिये।

यह सुनते ही राजा का चेहरा लाल हो उठा। दंग रह गये उसके दुस्साहस पर। सोचने लगे, इसे तो वृक्षों से बाँधकर कोड़ों से पिट-वाया जाय। किन्तु मुख से यह नहीं निकल सका। कहने लगे, राज-कन्या के लिए क्या मूल्य दोगे तुम?

मेतार्य ने कहा, जो आप चाहेंगे।

राजा बोले, आज ही रात भर में राजगृह के चारों ओर पत्थर की दीवार खड़ी करनी होगी। वरना कल सबेरे धड़ पर तुम्हारा सिर नहीं रहेगा।

राजा मेतार्य से पराजित हुए।

राजकन्या को प्राप्त कर मेतार्य ने नया घर बसाया। उस दिन विवाह की रात्रि में चण्डाल समझ कर जो लोग लौट गये थे वे भी एक-एक कर अपनी पुत्रियों के साथ आये। फिर शहनाई गूँज उठी। धीरे-धीरे अनेको कुटुम्बों से घर भी भर गया।

घर त्याग कर मेतार्य जिस दिन चला गया था वन में, उस दिन निर्जन वन के सघन वृक्षों की छाया में वह ध्यान करने बैठा था। उसने निश्चय कर लिया था कि चण्डाल होने के नाते जिस प्रतिष्ठा से उसे वंचित होना पड़ा उसे वह पुनः अवश्य प्राप्त करेगा।

अपनी इस साधना में लीन रहा वह तीन वर्ष। इसी बीच उसने यह अनुभव प्राप्त किया कि स्वयं में कितना आनन्द निहित है। अतः प्राप्त प्रतिष्ठा अब उसे पानी की तरह फीकी लगी। अन्तर्मन में न जाने कौन कह उठा, समस्त उन्मत्त लय जहाँ आ मिलते हैं उसी मूल स्वर को मैंने बाँध रखा है, जो कि प्राणों का आदि स्वर है।

उस अव्यक्त की आकुलता ने मेतार्य को घर में स्थिर रहने नहीं दिया। वह पुनः घर से निकल पड़ा। किन्तु इस बार प्रतिष्ठा के लिये नहीं, आनन्द में लीन होने के लिये।
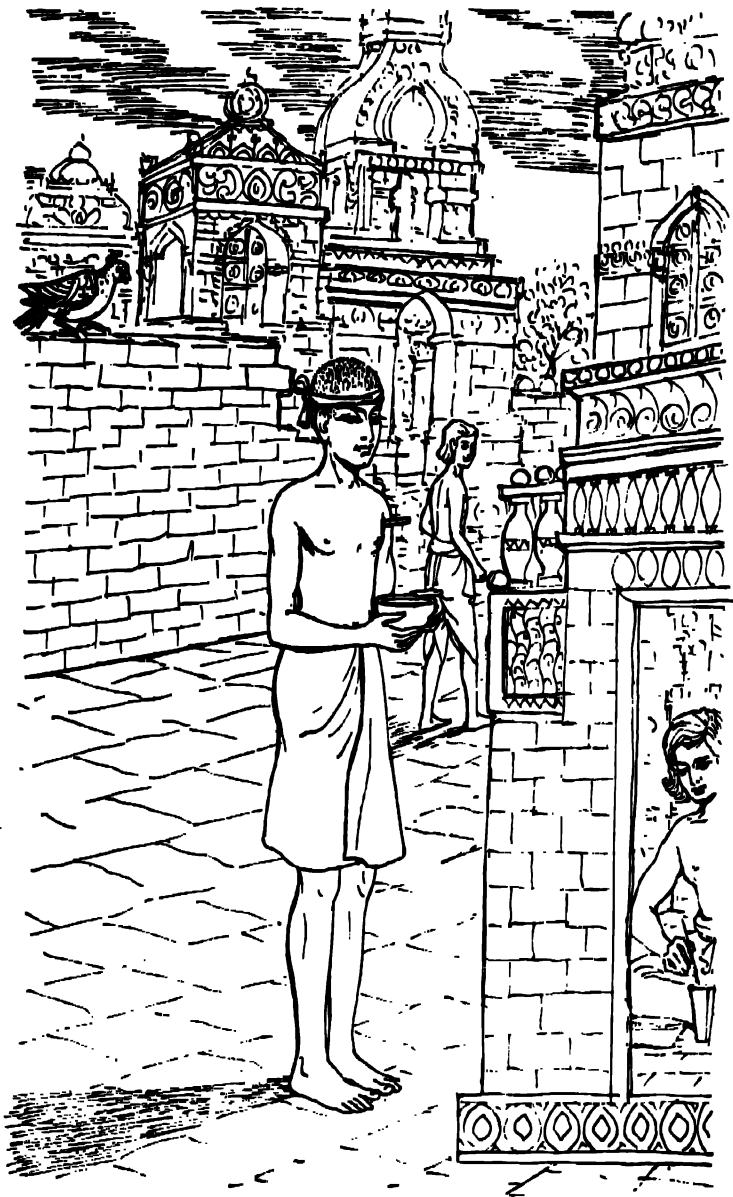
वह पट्टी भी धीरे-धीरे सिकुड़ कर ललाट पर कसती गयी ।

तत्पश्चात् राजगृह के राजपथ पर भिक्षुक के रूप में देखा गया मेतार्य को। उसके हाथ में था भिक्षा-पात्र।

भिक्षु मेतार्य को देखते ही स्वर्णकार स्वर्णयवों को ज्यों का त्यों छोड़कर घर के अन्दर भिक्षा लाने घुसा। भला भिक्षु पर कैसा अविश्वास!

किन्तु दैवयोगसे उसी क्षण न जाने कहाँ से एक पक्षी आ झपटा। स्वर्णयवों को अपनी चोंच में लेकर सामने की जीर्ण दीवार पर जा बैठा। संयोगवश उसके साक्षी स्वरूप वहाँ खड़ा रहा भिक्षु मेतार्य।

भिक्षा लेकर आते ही जब सुनार ने स्वर्णयवों को नहीं पाया, तो तुरन्त पूछ बैठा, यहाँ कोई आया था क्या भगवन्?

टूटी हुयी दीवाल पर अभी भी वह पक्षी आनन्द-विभोर हो निश्चिन्त-सा बैठा था। मेतार्य सब कुछ जानते हुये भी चुपचाप खड़ा रहा। उसने सोचा, यदि सारी घटना बतऊँगा तो स्वर्णकार यव के लिये पक्षी को मार डालेगा।

सुनार ने फिर पूछा किन्तु मेतार्य देवदारु की छाया से घिरे हुए टेढ़े-मेढ़े पथ की ओर दृष्टि किए पूर्ववत् चुपचाप खड़ा रहा। सोचने लगा, आवागमनमय इस संसार में स्वर्णयव का इतना क्या महत्त्व है?

सुनार ने सोचा, यह कार्य भिक्षु का ही है अतः इसे सजा देनी होगी।

उसने चमड़े की एक पट्टी को पानी में भिगोंकर मेतार्य के ललाट पर कसकर बाँधते हुये कहा, स्वर्णयव लेने की यही सजा है।

मेतार्य ने सोचा, जब किसी न किसी को तो सजा मिलनी ही है तो फिर अच्छा हो कि मुझे ही मिले ।

शनैः-शनैः सूर्य सिर पर चढ़ आया। वह पट्टी भी धीरे-धीरे सिकुड़ कर ललाट पर कसती गयी। उस असह्य पीड़ा से ऐसा लगा कि कि आखें बाहर आ जायेंगी। किन्तु मेतार्य के चेहरे पर खिन्नता की क्षीण रेखा भी नहीं थी।

आने-जाने-वाले राहियों में कोई जरा व्यंग से होठ बिचका कर चला गया एवं कोई खिलखिलाकर हँसते हुये कह उठा, अच्छा तो आप भिक्षु हैं ?

किन्तु इस व्यंग में मेतार्य को वही आनन्द प्रतीत हुआ जिससे पृथ्वी की शुष्क धूल भी मधुमय है।

इसके बाद सचमुच एक ऐसा समय आया जबकि मेतार्य की दोनों आँखें निकल आयी और वह गिर पड़ा।

उसके गिरने की आवाज से पक्षी चौंक उठा एवं सब स्वर्णयव पक्षी के मुंह से धरती पर गिर पड़े।

सुनार ने एक बार मेतार्य की ओर एवं एक बार यव की ओर देखा। उस चिलचिलाती हुयी धूप में पृथ्वी उसे प्रेम की पीड़ा से परिपूरित लगी। एक पक्षी के लिये इतनी व्यथा ? यह सोचकर उसका मन विस्मय से भर उठा।

अब सुनार घर में न रह सका। मेतार्य का भिक्षा-पात्र हाथ में ले वह उसी दिशा की ओर चल पड़ा जिस दिशा से मेतार्य आये थे।

धन्य और शालीभद्र

श्रेणिक की राज सभा में रत्नकम्बल लेकर एक वणिक आया। राजा ने कम्बल को हाथ में लेकर देखा। बोले, क्या गुण है इस कम्बल में? हाँ, भार तो बिल्कुल नहीं है!

वणिक ने कहा, यह तो सत्य है, किन्तु भार ही तो सब कुछ नहीं है।

राजा ने कहा, तब और क्या है?

वणिक मुस्कराते हुए बोला, इससे जिस प्रकार सर्दी दूर होती है उसी प्रकार गर्मी भी।

राजा ने रत्नकम्बल अन्तःपुर में भेजा। कम्बल देखकर उसके विषय में सब कुछ सुनकर पटरानी चेलना ने छत्रधारिणी से राजा को कहलाया, यह कम्बल उन्हें चाहिये ही।

किन्तु राजा वह रत्नकम्बल खरीद नहीं सके। उस रत्नकम्बल को खरीदने के लिये जितनी मुद्राओं की आवश्यकता थी उतनी मुद्रा एक रत्नकम्बल के लिए व्यय करने की शक्ति मगध के राजकोष की नही थी। अतः श्रेणिक को यह कहना पड़ा, इस रत्नकम्बल को मैं नहीं खरीद सकूँगा। हताश होकर वणिक राज सभा से लौट गया।

समस्त दिन राजगृह के पथों पर चक्कर काटते हुए वह श्रेष्ठी

शालिभद्र के घर पहुँचा। बोला, इस राजगृह की इतनी ख्याति! किन्तु खेद है कि समस्त नगर में कोई ऐसा नहीं मिला जो इन रत्न-कम्बलों को खरीद सकता!

यह सुनकर शालिभद्र की माँ नीचे आई। बोली, हताश क्यों हो गए। लो, मैंने खरीदीं तुम्हारी सब कम्बलें।

वणिक आश्चर्यचकित हो गया। सोचने लगा अवश्य कोई भूल हो गई है। अतः भ्रम दूर करने के लिए बोला, किन्तु उनकी कीमत बीस लक्ष सुवर्ण मुहरें हैं।

भद्रा बोली, इसके लिए क्या चिन्ता है?

सचमुच ही इसके लिए भद्रा को चिन्ता नहीं थी, चिन्ता तो तब हुई जब वणिक ने सोलह रत्नकम्बलें ही दीं। बत्तीस पुत्र वधुओं के लिए उसे कम से कम बत्तीस कम्बलों की तो आवश्यकता थी ही।

किन्तु किया भी क्या जा सकता था। अतः सोलह रत्नकम्बलों के दो टुकड़े करके भद्रा ने समान रूप से सबको बाँट दिया।

उधर सन्ध्या के समय जब राजा अन्तःपुर में गए तो देखा घर में दीपक नहीं जला था। न ही चेलना ने राजा से बात की।

राजा बोले, क्या हुआ तुमको?

चेलना ने जवाब दिया, और क्या होगा? मेरे लिए एक झोंपड़ी बनवा दीजिए। बस वहीं चली जाऊँगी।

राजा बोले, हठात् हुआ क्या?

चेलना मुँह घुमाए रही।

मन ही मन राजा सब कुछ समझ गए। बोले, ओ यह बात है! अच्छा, मैं वणिक को बुलवाता हूँ।

सोचने लगे, राजकोष में चाहे कितना ही अर्थाभाव हो, रत्नकम्बल खरीदे बिना मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।

किन्तु वणिक का कहीं पता नहीं चला। खबर आई कि उसके समस्त रत्नकम्बल शालिभद्र ने खरीद लिये हैं।

राजा का मन विस्मय से भर उठा। क्या शालिभद्र इतना धनी है?

दूसरे दिन उन्होंने अनुरोध पूर्वक कहलाया कि एक रत्नकम्बल अनुचर द्वारा भेज दें। साथ ही उसका मूल्य भी बतला दें।

यह सुनकर भद्रा ने कहा, महाराज को रत्नकम्बल भेजने में मूल्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु रत्नकम्बल घर पर नहीं है?

तब कहाँ गए?

भद्रा का चेहरा रक्तिम हो उठा। बोली, यह मैं कैसे कहूँ! मेरी पुत्रबधुएँ किसी भी वस्तु को दुबारा व्यवहार नहीं करतीं। अतः रत्न-कम्बल तो अब फेंक दिए गए।

दूत उत्तर लेकर लौट गया। सुनकर राजा अवाक् हो गए। फिर सोचने लगे, क्या सचमुच ही शालिभद्र इतना धनी है? उन्होंने कहलाया मैं शालिभद्र को देखने आ रहा हूँ।

तदुपरान्त एक दिन राजा शालिभद्र को देखने आये। घुड़शाला से घोड़े निकले, हाथीशाला से हाथी। आगे लोग, पीछे लश्कर।

भद्रा ने सभी की अभ्यर्थना की। फिर श्रेणिक को लेकर अन्तःपुर पहुँची।

शालिभद्र का महल सात खण्ड का था। प्रथम खण्ड पर सुवर्ण स्तम्भ पर सुवर्ण की छत थी जहाँ दास-दासी रहते थे।

श्रेणिक प्रथम महल से आये द्वितीय महल में, फिर तीसरे, चौथे, पाँचवें में। वहाँ सुवर्ण दीवार पर माणिक्य के पक्षी बने हुए थे मुक्ता के फल एवं पन्ने के पत्ते थे।

राजा ने कहा, अब और नहीं चला जाता, बस यहीं बैठता हूँ।

भद्रा शालिभद्र को बुलाने गयी।

शालिभद्र कभी नीचे नहीं उतरे थे। घर के आदमियों के सिवाय किसी का मुँह नहीं देखते थे। व्यवसाय का समस्त कार्य भद्रा ही देखती थी। अतः असमय में माँ को देखकर बोले, माँ तुम!

हाँ मैं। राजा आए हैं।

शालिभद्र राजा को नहीं जानते थे। बोले, राजा? क्या चाहते हैं वे?

भद्रा बोली, चाहते कुछ नहीं हैं। तुम्हारी ख्याति सुनकर केवल तुम्हें देखने आए हैं।

शालिभद्र बोले, नहीं मिलूँ तो क्या हानि है?

भद्रा बोली, ऐसा नहीं हो सकता। वे राजा हैं। समस्त देश के अधिपति। वही सब की रक्षा करते हैं। उनका आदेश अमान्य नहीं किया जा सकता।

शालिभद्र ने प्रश्न किया, क्या वे मेरे भी अधिपति हैं?

भद्रा मुस्कुरा कर बोली, हाँ बेटा।

शालिभद्र यह सुनकर गम्भीर हो गए। वे कहने लगे, तो मेरा भी कोई अधिपति है, मैं ही सर्वोपरि नहीं हूँ!

माँ बोली, पगला कहीं का।

शालिभद्र को देखकर राजा लौट गए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वे शालिभद्र को नहीं, शिउली वन में खिला हुआ प्रभात-कालीन शिउली फूल को देख रहे हैं।

किन्तु शालिभद्र उसी चिन्ता में तल्लीन हो गये। उन्हें रह-रहकर यही स्मरण हो रहा था कि मेरे ऊपर भी कोई अधिपति है।

शहनाई का स्वर अब उन्हें मधुर नहीं लगता, केश सुवास में मन मदमस्त नहीं होता। सब कुछ नीरस सा प्रतीत होने लगा।

एक दिन शालिभद्र ने माँ से कहा, क्या करूँगा माँ, इतना छोटा स्वामित्व लेकर? मैं तो सर्वोपरि होना चाहता हूँ।

यह सुनते ही माँ का हृदय काँप उठा। इसीलिये तो उसने शालिभद्र को सबसे अलग रखा था। एक दिन इसी भाँति उसके पति भी तो सब कुछ छोड़ कर चले गए थे। यह वह भूली नहीं थी।

माँ बोली, बेटा, सर्वोपरि बनने का पथ बड़ा कठिन है। तुम सकोगे नहीं।

शालिभद्र बोले, क्यों नहीं सकूँगा?

प्रत्युत्तर देती हुई भद्रा बोली, बेटा, वह सन्यास का पथ है। पैरों में काँटे चुभेंगे, समस्त देह क्षत-विक्षत हो जाएगी। क्या तुम यह सब सह सकोगे?

शालिभद्र ने कहा, माँ मुझे तो बस तुम्हारा आशीर्वाद चाहिए।

भद्रा का हृदय भर आया। पुनः बोली, शालिभद्र! तुम्हें किस वस्तु का अभाव है? देवताओं का वैभव तुम्हारे पैरों तले हैं। क्या चाहिए तुम्हें?

शालिभद्र ने कहा, माँ मुझे तो बस तुम्हारा आशीर्वाद चाहिए।

माँ बोली, तब ठीक है। सारा संसार एक ही दिन में तो छोड़ा नहीं जा सकता। थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ो।

भद्रा जानती थी कि ऐसी स्थिति में अपने ही संस्कार कभी-कभी बाधक बन जाते हैं।

शालिभद्र की बहिन सुभद्रा स्वामी की पदसेवा कर रही थी। न जाने कब अनजान में एक बूँद आँसू स्वामी के पैरों पर जा गिरा। धन्य चौंक उठे। बोले, सुभद्रा तुम रो रही हो?

सुभद्रा ने अंचल से आँसू पोंछे। बोली, रोऊँ नहीं तो क्या करूँ। संसार परित्याग करने के लिए शालिभद्र नित्य एक रानी को छोड़ता है।

सुनते ही धन्य हा-हा करके हँस पड़े। बोले, क्या? ऐसा तो कभी नहीं सुना। जब वैराग्य हो जाता है, विवेक जागृत हो जाता है, तब संसार तो एक साथ ही छूट जाता है।

सुभद्रा को आघात पहुँचा। सोचने लगी, ये शालिभद्र को छोटा समझ रहे हैं। अतः कह उठी, कहना आसान है, करना कठिन। तुम छोड़ो देखें—

यह लो छोड़ा, कहते हुए धन्य मुहूर्त्त मात्र में ही संसार का

परित्याग कर चले गए। वह धन, वह सम्पत्ति, वह सम्मान, वह वैभव एवं रूपसी नारियाँ किंचित मात्र भी उनके मन में वैक्लव्य उपस्थित नहीं कर सकीं।

सुभद्रा हृदय-विदारक हाहाकार करती हुई पथ के किनारे धूल पर अंधड़ में टूटी हुई अश्वत्थ डाल की भाँति पड़ी रही। अनुनय, विनय, क्षमा-प्रार्थना एवं अविरल अश्रुजल से भी धन्य को लौटा न सकी।

जिस दिन यह बात शालिभद्र के कानों में पड़ी, उसी दिन वे भी सवस्व त्याग कर भिक्षापात्र हाथ में ले निकल पड़े।

प्रसन्नचन्द्र

भगवान महावीर जिस समय गुणशील चैत्य में अवस्थित थे, राजगृह के महाराज श्रेणिक चतुरंगिनी सेना के साथ उनकी पद-वन्दना करने आये।

राह में नगर से बाहर लता पत्तों से आवृत एक स्थान पर पोतनपुर के राजा प्रसन्नचन्द्र को ध्यान करते देखा। राजर्षि के सौम्य एवं शान्त मुख को देखकर श्रेणिक का हृदय अपार श्रद्धा से भर उठा। वे सोचने लगे, राजर्षि की इस तपस्या की तुलना नहीं।

गुणशील चैत्य में महावीर को प्रणाम कर श्रेणिक ने अपना आसन ग्रहण किया। उसके बाद बोले, प्रभु ! राह में आते समय मैंने ध्यान-मग्न प्रसन्नचन्द्र को देखा। राजर्षि जैसी तपस्या तो मैंने बहुत ही कम देखी है। एतदर्थ उनके विषय में एक बात जानने को मैं अत्यन्त उत्सुक हूँ। जिस समय मैंने उन्हें देखा, यदि उसी समय उनका देहावसान हो जाता तो वे किस लोक को प्राप्त करते ?

महावीर ने कहा, सप्तम नरक को।

सप्तम नरक !

जितने भी वहाँ उपस्थित थे सभी स्तब्ध से हो गये। यह कैसी

जिस समय मैंने उन्हें देखा, यदि उसी समय उनका देहावसान
हो जाता तो वे किस लोक को प्राप्त करते ?

असम्भव बात ! इतने महान तपस्वी के विषय में तो ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। किन्तु, सर्वदर्शी भगवान महावीर ने जब कहा है तो शंका को स्थान कहाँ !

श्रेणिक ने पुनः प्रश्न किया, प्रभु ! यदि इस क्षण, अभी उनका देहान्त हो जाता तो ?

महावीर ने कहा, षष्ठ नरक।

श्रेणिक ने पुनः प्रश्न किया, यदि इस क्षण ?

महावीर ने जवाब दिया, पंचम नरक।

इसके बाद श्रेणिक प्रश्न करते गये, अब ? अब ? अब ?

महावीर उत्तर देते गये, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम नरक।

और अब ?

प्रथम देवलोक।

तत्पश्चात् द्वितीय, तृतोय, पंचम और अन्त में सर्वोच्च देवलोक।

ठीक उसी समय वायु फूलों की भीनी सुवास से सुवासित हो उठी। दूर कहीं आकाश में देव दुन्दुभि बजने लगी। एक अपूर्व आनन्द के आवेग में समस्त विश्व चंचल हो उठा। अपरिमित आनन्द से राजा श्रेणिक का रोम-रोम पुलकित हो गया। श्रेणिक स्थिर न रह सके। पूछ ही बैठे, प्रभु ! यह क्या ?

महावीर ने कहा, प्रसन्नचन्द्र ने आत्मा के प्रकाश के समस्त आवरणों को इसी क्षण क्षय कर डाला है। वे मुक्त हो गये।

विस्मय पर विस्मय ! कहाँ सप्तम नरक ! कहाँ प्रकाश के आवरणों का क्षय !

श्रेणिक बोले, कुछ समझ में नहीं आ रहा है, प्रभु।

महावीर ने कहा, अभी स्पष्ट किये देता हूँ। सब कुछ समझ जाओगे। तुमने जब प्रथम बार प्रसन्नचन्द्र को देखा था उस समय उनका चित्त भ्रमित था। और उस चित्त विभ्रम का कारण था उनके शिशु पुत्र पर आने वाली विपद, जिसे कि वे तुम्हारे अनुचरों के वितर्क द्वारा जान पाये थे। उस बात को सुनकर उनका ध्यान भंग हो गया था। पोतनपुर जब शत्रुसेना से अवरुद्ध था, राज्य रक्षा जब अनिश्चित थी, तो देश, राज्य एवं शिशु पुत्र के लिये उन्होंने हाथ में अस्त्र धारण कर लिया।

श्रेणिक बोले, भगवन् ऐसा क्यों हुआ?

महावीर ने जवाब दिया, समस्त प्रश्न एवं समस्त जिज्ञासाओं का निराकरण किये बिना ध्यान नहीं हो सकता। राजर्षि को शिशु-पुत्र की राज्य-रक्षा के विषय में जो संशय था उसका समाधान किये बिना ही तो श्रमण दीक्षा लेकर वे ध्यान में अवस्थित हो गये थे। उनकी धारणा थी, किसका संसार! किन्तु वे भूल गये थे कि संसार उनका स्वयं का ही था। इस बात को वे उस दिन नहीं समझ सके थे। अतः इसी एक छोटे से संशय ने विराट रूप धारण कर उनको पथ से विचलित कर दिया।

तत्पश्चात्?

तत्पश्चात् जब उनका अस्त्र टूटकर हाथ से गिर पड़ा और दूसरा अस्त्र वे पा नहीं सके, तब अपने मस्तक के मुकुट को उतार कर ही विपक्षी दल पर आक्रमण करने को तत्पर हुए। मस्तिष्क पर हाथ पड़ते

ही उनकी चेतना लौट आयी। अरे! कहाँ मुकुट? कहाँ शत्रु सैन्य? और कहाँ पोतनपुर? मैं तो श्रमण हूँ। नगर के बाहर उद्यान में ध्यान कर रहा हूँ।

अब वे समझ पाये कि स्वयं पर विजय प्राप्त किये बिना बाह्य त्याग की कोई वास्तविक महिमा नहीं है। क्योंकि संसार भी तो अपनी ही विसृष्टि है।

और यही चेतना उन्हें उच्चतर लोक में ले जाने का कारण बनी जिसकी परिसमाप्ति हुयी प्रकाश पर आये हुए समस्त आवरणों के क्षय में।

उदायी

सोलह देशों के एकछत्र राजा थे उदायी। उनके शासन में कहीं भी शिथिलता नहीं थी। उनका शासन न्याय पर प्रतिष्ठित था। इसीलिये उनके राज्य में श्री, सम्पदा और वैभव के साथ-साथ प्रजा के मन में अखण्ड शान्ति भी थी।

एक समय विवेकजात वैराग्य से राजा के मन का ममत्व नष्ट हो गया। वे समझ गये कि संसार में हम जिसे अपना कहते हैं, वे सब हमारे लिए बन्धन नहीं है। बंधन है ममत्व भाव।

अतः जिसे मैं और मेरे का ममत्व नहीं है, उसके लिये संसार में कहीं कुछ भी बन्धन नहीं है। वह मुक्त हो जाता है। और मुक्त हो जाने के बाद सोना और पत्थर दोनों समान ही प्रतीत होते हैं।

राजा उदायी भी जब इस अवस्था में आये तो उन्होंने एक दूर का सम्पर्क रखने वाले आत्मीय के हाथों में राज्य सौंपकर वन की राह पकड़ ली।

तत्पश्चात् दीर्घ पथ अतिक्रमण कर वे वहाँ पहुँचे जहाँ भगवान महावीर सशिष्य अवस्थित थे। उनकी शरण ग्रहण कर राजा उदायी धन्य हुए।

अनेक दिनों के पश्चात् एक दिन भगवान महावीर के चरणों में प्रणाम करते हुये उदायी बोले, मेरी इच्छा उसी राज्य में जाने की है जो कि किसी समय मेरा था। क्योंकि वहाँ छोटे-बड़े सभी मुझे जानते हैं और मैं भी उन्हें जानता हूँ। अतः मेरे लिये वहाँ धर्म प्रचार करना सहज होगा और इससे उन लोगों का कल्याण भी होगा।

भगवान महावीर ने कहा, ठीक है।

नवीन राजा ने जब सुना कि उदायी उसके राज्य में आ रहे हैं, उसका हृदय प्रसन्नता से भर उठा। उन्हें कुछ कष्ट न हों इस व्यवस्था के लिये उसने अपने अनुचरों को पूर्ण सतर्क कर दिया। भला, वह ऐसा क्यों नहीं करता? उदायी की दया से ही तो वह राजा बना था। इच्छा करने पर उदायी उस राज्य को किसी अन्य व्यक्ति को दे सकते थे। अतः जबकि उदायी के कारण ही वह इतना वैभवशाली बन पाया तो उनकी सुख-सुविधा की उत्तम व्यवस्था करना तो उसका कर्त्तव्य ही हो गया था।

नवीन राजा की सम्मति पाकर उदायी के बन्धु-बान्धव, आत्मीय-परिजन, पूर्व मन्त्री एवं राज्य-कर्मचारी सभी उनकी सेवा के लिये प्रस्तुत होने लगे। राजधानी की जनता उस राजर्षि को देखने के लिए उत्सुक हो उठी।

किन्तु चुगली करने वालों का अभाव भी तो किसी युग में नहीं रहा। भला वह युग उसका अपवाद कैसे बनता। उन्हीं में से एक राजा के पास आया और पूछने लगा, राज्य में इतनी प्रसन्नता? इसका क्या कारण?

राजा विस्मित होकर बोले, अरे ! तुम्हें नही मालूम ? राजर्षि उदायी आ रहे हैं ।

राजर्षि उदायी ? उनके लिये इतनी खुशी ? कहते-कहते उसका मुख विकृत हो उठा ।

उसकी इस विकृत मुखाकृति को देखकर राजा और भी विस्मित होकर कहने लगे, वे आ रहे हैं इसमें तुम्हारे लिये अप्रसन्नता का कौन-सा कारण बना ?

वह आदमी राजा के मुख की ओर देखता ही रह गया। कहने लगा, मेरे लिये ? मेरे लिये तो कुछ नहीं है। किन्तु हाँ, कुछ दिन अपेक्षा कीजिए तब मालूम हो जायेगा कि चिन्ता की क्या बात है ?

किसी अज्ञात शंका से राजा का मन विचलित हो उठा। गम्भीर होकर राजा ने कहा, अब तो तुमने सचमुच ही चिन्ता खड़ी कर दी। आखिर बात क्या है कहो तो ।

राजा की आन्तरिक स्थिति उससे छिपी नहीं रही। अतः कहने लगा, यदि मैं बात कह दूँ तो शायद आप मेरा मुख भी देखना पसन्द नहीं करेंगे ।

राजा अधीर हो उठे। बोले, और यह भी तो हो सकता है कि तुम्हारा मुख और भी अधिक देखने लग जाऊँ। क्या तुम जानते हो राजर्षि क्यों आ रहे हैं ?

उस व्यक्ति ने जवाब दिया, अब आप कुछ समझ पाये हैं। उदायी अपना राज्य लेने आ रहे हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो महावीर का पवित्र सान्निध्य छोड़कर राजधानी में क्यों आते !

राजा कुछ सोचते हुये फिर बोले, नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वे तो सब को सत्य की राह दिखाने आ रहे हैं, मैंने तो यही सुना है।

किन्तु जितने विश्वास के साथ राजा को यह बात कहनीं थी उतने विश्वास से वे नहीं बोल सके। अतः राजा की दुर्बलता से लाभ उठाकर वह कह उठा, तब आप अपनी जानकारी को लिये बैठे रहिये। फिर कुछ रुककर बोला, क्या आप नहीं समझ पाये कि मैं आपका एकान्त हितैषी हूँ। ये सब मन्त्री, बड़े-बड़े राज्य-कर्मचारी, उदायी के बन्धु-बान्धव, आत्मीय-परिजन सभी इतने व्यस्त क्यों हैं? क्या आप नहीं देख पा रहे हैं? सेवा? वह तो ढोंग है। इसके पीछे एक षड़यन्त्र है।

वह व्यक्ति राजा के मुख की ओर देखने लगा। अब अविश्वास का कोई कारण नहीं था। राजा को भी स्वाभाविक रूप से विश्वास हो गया। उसका हृदय अशान्त हो उठा। क्रोध से अधीर हो कहने लगा, राज्य में इस षड़यन्त्र के फैलने के पूर्व ही इसे निर्मूल कर नष्ट कर देना होगा। अतः राजा की नवीन घोषणा लेकर दूत चला। घोषणा यही थी कि उदायी को कोई भी खाने के लिये अन्न एवं रहने के लिये स्थान न देगा। जो देगा उसे कठोर सजा दी जायेगी।

अब किसका साहस था कि उदायी को कोई अन्न, जल एवं स्थान दे।

साधु-सन्त के आगे-पीछे तो कितने ही पुण्य-लोभातुर लगे रहते हैं। किन्तु उदायी जब राजधानी पहुँचे तो राजपथ पर वे अकेले ही थे। जिस पथ से वे निकलते, देखते-देखते वह जनहीन हो जाता। उन्हें

देखते ही चौंककर लोग अपने घर का दरवाजा उनके सम्मुख ही बन्द कर देते।

उदायी कुछ समझ न सके कि ऐसा क्यों होता है? न तो वे क्षुधा शान्त करने को अन्न पा सके, न तृष्णा के लिये जल। किन्तु इसकी कोई चिन्ता उन्हें न थी। हाथ में भिक्षापात्र लिये उदायी राजधानी के एक रास्ते से दूसरे रास्ते पर विचरने लगे।

सामने ही रास्ते में एक उनका सुपरिचित व्यक्ति हठात् सम्मुख पड़ जाने के कारण बगल काट कर जा न सका। अतः जल्दी से बोला, मेरे घर पर बहुत लोग आये हुये हैं। इसीलिये वहाँ तो जरा भी जगह नहीं है। और खाना? वह तो आपको जो भी मिलेगा....तत्पश्चात् क्या कहें कुछ स्थिर न कर सकने के कारण राजपथ के एक स्तम्भ को जैसे कोई उसका परिचित हो, ऐसा समझते हुए, आ रहा हूँ—कहकर शीघ्रता से उसकी आड़ में अदृश्य हो गया।

किन्तु उदायी को न सुख था, न दुःख। अतः उनका प्रशान्त हृदय जरा भी विचलित न हुआ। बस केवल मुस्कुरा कर रह गये।

उदायी चलते रहे। चलते-चलते राज्य की सीमा पार हो गई। मध्याह्न का सूर्य मस्तिष्क पर था। असह्य था उसका उत्ताप। हवा के तीव्र झोंके के साथ आने वाली धूल आँखों पर, मुख पर, शरीर पर गिर रही थी।

दूर, अनेक दूर उन्हें दिखाई दीं जीर्ण-शीर्ण दीवाल के पास धूप में जले हुये ज्वार की पंक्तियाँ। काष्ठ विदीर्ण कर देने वाली उस तीव्र धूप में कहीं छाया का लेशमात्र नहीं था।

कुछ देर के पश्चात् ही उदायी आ खड़े हुए एक कुम्हार के घर के सामने। दरवाजा खुला था और कुम्हार की पत्नी खड़ी थी दरवाजे के समीप ही। उदायी की प्रशान्त एवं प्रदीप्त मुख छवि उसके अन्तर को स्पर्श कर गयी।

उदायी को आवश्यकता थी क्षुधा के लिये अन्न की, तृष्णा के लिये जल की एवं माथा टेकने के लिये स्थान की।

कुम्हार-पत्नी उदायी के श्रान्त चेहरे को देखकर समझ गयी कि अनेक पथों का अतिक्रमण करते हुये ही ये गाँव की इस बस्ती में आये हैं। पूछने लगी, क्या शहर से आये हो ?

उदायी ने जवाब दिया, हाँ।

फिर न जाने क्या सोचते हुए कुम्हार की पत्नी ने पुनः पूछा, वहाँ क्यों नहीं रहे ?

उदायी बोले, वहाँ स्थान न पा सका।

स्थान नहीं मिला। मरें वे सबके सब। अच्छा ठहरिये। मैं घर में पूछ कर आ रही हूँ।

कुम्हार कार्य में व्यस्त था। श्रमण को घर में स्थान देना होगा सुनकर चिल्ला उठा, अरे वे सब जितने हैं, सब ठग, बदमाश हैं। कोई जरूरी नहीं है उन्हें खाना-पीना देने की। शीघ्रता से विदा करो उसे।

कुम्हार-पत्नी बोली, नहीं नहीं, यह बेचारा ऐसा नहीं है। इसका तो....

तू ठहर। उन सबको तो मैं जानता हूँ। वे सब....

कुम्हार की पत्नी को अब क्रोध आ गया। वह भी चिल्लाती हुयी

कुम्हार पत्नी कहने लगी, साधुजी हमारा तो टूटा-फूटा छोटा घर है,
रूखी-सूखी रोटी है, इसमें आपको कष्ट तो नहीं होगा ?

कहने लगी, क्या जानते हो ? तुम जानते हो केवल गिटना। और क्या जानते हो ? यदि उसे घर से निकाल दिया तो आज खाने की आशा मत करना—कहती हुयी कुम्हार की पत्नी घर की ओर मुड़ी।

खाने की टोका टोकी सुनकर कुम्हार भी क्रोधित हो गया। किन्तु उसने अपने को सम्भाल लिया क्योंकि पत्नी को वह अच्छी तरह जानता था। वह समझ गया कि अधिक कुछ कहूँगा तो यह सारा खाना-वाना उठाकर फेंक देगी। बहुत समय हो गया था। भूख भी जोर से लग रही थी। अतः यथासम्भव अपनी आवाज को नरम बना कर बोला, तुझे तो गुस्सा बहुत आता है। क्या है उसका नाम ?

वह मैं क्या जानूँ। पूछ लो जाकर। कहती-कहती वह घर में घुस गयी।

कुम्हार ने बाहर खड़े उदायी को देखा। समझ गया कि यह ऐसा-वैसा साधु नहीं है। उसकी पत्नी ठीक ही तो कहती थी। अतः दूर से ही प्रणाम करते हुये पूछा, कहिये साधुजी, क्या नाम है आपका ?

उदायी बोले, उदायी।

उदायी ! हमारे राजा ! हठात् नवीन राजाज्ञा उसे स्मरण हो आयी। वह जल्दी से घर में गया और अपनी पत्नी को पुकार कर कहने लगा, सुन रही है, यह राजा उदायी है। यदि इन्हें रहने दिया तो तेरा घर उजड़ जायेगा और राजा के लोग तुझे पकड़ कर ले जायेंगे। बोल अब क्या बोलती है ?

कुम्हार भयभीत हो गया था किन्तु पत्नी के भय से उदायी के सामने ही दरवाजा बन्द न कर सका। फिर वह सोचा कि अब तो

उसकी पत्नी भी डर जायेगी और यही कहेगी, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। तब वह उनके सम्मुख ही दरवाजा बन्द कर आयेगा। किन्तु उसकी पत्नी के भयभीत होने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया। बल्कि वह तुरन्त बोल उठी, कैसा है यह राजा? साधु-श्रमण को भी ठहरने का स्थान नहीं देता है। फिर कुम्हार को लक्ष्य करती हुई कहने लगी, सुन लो, यह घर जैसा तुम्हारा है वैसा मेरा भी है। यदि तुम उसे स्थान नहीं दोगे तो मैं दूँगी।

कुम्हार डरता-डरता बोला, यदि ऐसा हुआ तो मेरा घर लुट जायगा और तुझे भी पकड़कर ले जायेंगे।

कुम्हार की पत्नी झुँझलाकर बोली, धत्! क्या लुट जायगा? अरे इस काठ-कबाड़े की एक ढेर राख होगी। ले लेने दो उसे राजा को ही। बेचारे के शरीर में लपेटने को काम आयेगी। और क्या लेगा? इस गधे को लेगा? ले ले। गधे पर नहीं चढ़ेगा तो भला ऐसा राजा और किस पर चढ़ेगा? और मुझे पकड़कर ले जायेंगे तो ले जाँय। खाना खिलाना होगा। घानी में खटा-खटाकर मारेंगे तो मार लेंगे। एक दिन तो मरना ही है। पीछे नहीं मरी पहले ही मरी सही। दो बार थोड़ी मार सकेगा। अरे एक बार तो सभी को ही मरना है। फिर डर क्या है?

उसकी बातें सुनकर कुम्हार को भी साहस आ गया। बोला, ठीक बोलती है। जा साधु जी को बुला ला। अपना सब कुछ देकर उनकी सेवा करेंगे। राजा आयें है, अपने घर राजा।

कुम्हार-पत्नी उदायी को अपने घर ले आयी। कहने लगी,

साधुजी, हमारा तो टूटा-फूटा छोटा घर है, रूखी-सूखी रोटी है, इसमें आपको कष्ट तो नहीं होगा ?

किन्तु उदायी का मुख पूर्व की भाँति ही प्रशान्त था। उन्हें किसी भी स्थिति में कष्ट नहीं था। अन्याय ,अत्याचार एवं पीड़ा का अनुभव तो वे करते हैं जिन्हें ममत्व का बोध है। किन्तु जिसने सत्य का सन्धान पा लिया है और सत्य का सन्धान पाकर जो निर्मम हो गया है, उसे वह स्पर्श नहीं करता।

नागिला

नागिला की भाँति रूपवती नारियाँ उन दिनों अधिक नहीं थीं। तभी तो प्रेमासक्त हो भवदेव ने पाणि-ग्रहण कर लिया था नागिला का।

नित्य ही समस्त दिन कार्य रहता था और चतुर्दिक छाया रहता था जन समूह। किन्तु बाहर के इस संसार को छोड़कर भवदेव आ पहुँचा था नागिला के निभृत हृदय के द्वार पर। नागिला में जो कुछ था, अनिवर्चनीय था, अविस्मरणीय था, उसी ने सहसा झंकृत होनेवाले वीणा के तारों की भाँति उसे चमत्कृत कर रखा था। अतः उसके सौन्दर्य को नित्य ही वह अपनी अभिरुचि के अनुमार सँवारता एवं चिबुक पकड़ कर कह उठता, प्रिये ! तुम तो मेरी इन्द्राणी हो।

नागिला को भी असीम प्रेम था भवदेव से। वह भी प्रत्युत्तर में कह देती, यह सब तो बस तुम्हारा प्रेम है।

भवदेव न जाने क्या सोचता और कहने लगता, छोटा सा है हमारा संसार। किन्तु तुम्हारा प्रेम ? वह तो वेणुवन पर छाये सिहर-सिहर कर काँप उठने वाले पत्तों की भाँति है।

फागुन का महीना था। शाल फूलों की बहार थी। नागिला

भवदेव के सम्मुख बैठी थी। सुनहली किरणों में लहरा रही थी उसकी केश-राशि। झिलमिल कर रहा था उसका बहुमूल्य परिधान एवं समीप ही बिखरी पड़ी थीं दुर्लभ जातीय पुष्प मँजरियाँ।

इसी समय बाहर के द्वार पर किसी के आने की आहट आई। भवदेव की इच्छा उठकर न जाने की होते हुये भी उसे जाना ही पड़ा।

दरवाजा के सम्मुख खड़े थे उसके अग्रज भवदत्त।

भवदत्त ने छोटी उम्र में ही दीक्षा लेकर संसार का परित्याग कर दिया था। किन्तु इन दोनों में बहुत प्रेम था। इसलिये इतने दिनों के पश्चात् उन्हें देखकर भवदेव प्रफुल्लित हो उठा।

बहुत देर तक दोनों ने बैठकर वार्तालाप किया।

जाने के समय भवदेव भवदत्त का भिक्षा-पात्र हाथ में लेकर उन्हें कुछ दूर पहुँचाने गया।

कुछ दूर और, कुछ दूर और करते-करते भवदेव भवदत्त के साथ गाँव से गुजरता हुआ वन के किनारे आ पहुँचा।

किन्तु भवदत्त ने भवदेव के हाथ से भिक्षा-पात्र लेने का कोई उपक्रम नहीं किया और न ही भवदेव के मुँह से निकल सका, लीजिये आपका भिक्षा-पात्र, अब मैं जाता हूँ, जबकि नागिला के लिये उसका मन व्याकुल हो रहा था। वह सोच रहा था कि नागिला शायद आँगन में बैठी अब भी उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी।

भवदत्त के साथ हाथ में भिक्षा-पात्र लिए भवदेव को आते देख सभी श्रमण प्रसन्न हो उठे। यहाँ तक कि आचार्य ने दीक्षा का दिन भी निश्चित कर दिया।

एक अत्यन्त प्राचीन कुएँ के किनारे खड़ी हुई दो स्त्रियों को देखा।
उनके हाथ में वनफूलों की डाली थी।

नींबू के बगीचे से होकर गोशाला से गुजरते हुये धान के खलिहानों को पार कर तीसी के खेत के किनारे-किनारे आते समय जिस प्रकार वह नहीं बोल सका था, ठीक उसी प्रकार इस समय भी कुछ न कह सका। सोचने लगा कि भिक्षा-पात्र हाथ में लिए श्रमण-संघ में प्रविष्ट होकर यदि कहूँगा कि मैं स्वेच्छा से यहाँ नहीं आया हूँ तो इससे भवदत्त का अपमान होगा। और उनका अपमान करना भवदेव के लिये असम्भव था, किन्तु उससे भी असम्भव कार्य था नागिला को भूल जाना।

इस दुविधा में आखिर भवदेव ने दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने सोचा, जबतक भवदत्त जीवित हैं, तब तक मैं यहाँ रहूँगा। तत्पश्चात् पुनः नागिला के पास लौट जाऊँगा।

बारह वर्षों के पश्चात् जिस दिन भवदत्त ने नश्वर शरीर का त्याग किया उसी दिन गहन रात्रि में जबकि सभी श्रमण निद्रित अवस्था में थे, पृथ्वी निस्तब्ध थी, अकेला ही भवदेव संघ से बाहर हो गया।

तत्पश्चात् समस्त वन और खेतों को पार करते हुये सबेरा होने के पहले ही वह अपने गाँव में आ पहुँचा।

भवदेव ने गाँव में, जहाँ उसका मकान था उस ओर जाने वाली पगदण्डी पर, आम्र उपवन से आच्छादित, एक अत्यन्त प्राचीन कुएँ के किनारे खड़ी हुई दो स्त्रियों को देखा। उनके हाथ में वनफूलों की डाली थी।

भवदेव कुछ सोच-मग्न सा हो गया। वह सोचने लगा कि कहीं ऐसा न हो कि मुझे मेरा घर धूलि-धूसरित मिले या वहाँ नागिला न मिले।

तब तो शून्य घर का क्रन्दन किसी मूक के क्रन्दन से भी अधिक हृदय विदारक ही होगा। अतः क्यों नहीं इन्हीं लोगों से पूछ लिया जाय। यदि नागिला घर पर है तब तो मैं जाऊँगा, नहीं तो जहाँ से आया हूँ वहीं पुनः लोट जाऊँगा।

एतदर्थ उनमें से एक को भवदेव ने नागिला के विषय में ज्योंही पूछा वह विस्मय भरी दृष्टि से भवदेव को निहारने लगी। उसकी आँखें छलछला आयीं। बोली, क्या तुमने मुझे पहचाना नहीं ?

भवदेव गौर से उसे देखने लगा। क्या यह वही नागिला है ? कहाँ गया उसका वह शारीरिक सौन्दर्य ? लावण्य के रूप में यदि कोई वस्तु उसमें अवशेष थी तो वह था उसका मोहक हास्य।

किसी एक वसन्त में ही भवदेव चला गया था और जिस दिन घर लौटा वह भी एक वसन्त ही था। विकसित शाल मञ्जरियों की बहार में भवदेव को पूर्व स्मृति हो आयी। कहने लगा, नागिला, अब भी मैं तुम्हारा ही हूँ।

नागिला ने हँसते हुये कहा, क्या मैं वही नागिला हूँ ?

भवदेव नागिला के कथन का अभिप्राय नहीं समझ पाया। अतः कहने लगा, नागिले ! इन बारह वर्षों में तुम्हें छोड़कर मैंने किसी अन्य का चिन्तन नहीं किया।

नागिला मन ही मन सोचने लगी, कितनी शरम की बात है यह ? क्या इतनी चाह का मूल्य मुझ में है ?

भवदेव बोला, चलो, घर चलें।

घर ? हम तुम एक साथ रह सकें ऐसा स्थान तो अब नहीं है

भवदेव उषा के अप्रतिम सौन्दर्य को निहारने लगा। प्राची में स्थित नीले पर्वत पर सूर्योदय हो रहा था। प्रभाकर की स्वर्णिम आभा में झिलमिला रहे थे नव-पल्लव। कहने लगा, क्या सचमुच ही स्थान नहीं है?

नागिला बोल पड़ी, कैसे रहेंगे? क्या तुम मुझ से यही आशा करते हो कि मैं तुम्हें व्रतरहित देखूँ? मैं तुम से प्रेम करती हूँ।

असीम व्यथा से भवदेव का हृदय भर उठा यह सुनकर—मैं तुम से प्रेम करती हूँ।

प्रेम के इसी उज्ज्वल रूप में नागिला ने चिर-विरह की वेदना को नयन-नीर में प्रवाहित कर दिया था।

भवदेव नागिला के मुख की ओर देखता ही रह गया। कितनी पूर्ण थी वह और साथ ही कितनी गम्भीर!

भला प्रेम में तुच्छ कामनाओं का कार्पण्य कैसे समा सकता था? इसी प्रेम में आशा और निराशा के झकोरों को सहती हुयी मन की सीमा को पारकर असीम के उस आनन्द में नागिला ने भवदेव को देखा जिसमें कि उसका वास्तविक कल्याण था। तभी तो वह कह सकी थी, मैं तुम से प्रेम करती हूँ किन्तु मेरे घर में तुम्हारे लिये स्थान नहीं है।

भवदेव ने देखा कि नागिला साधारण मानवीय धरातल पर नहीं बल्कि विश्व-प्रेम के अरुणिम पद्‌म पर अवस्थित है।

भींगी घास की गन्ध से भरे वन-पथ से होकर उसी आनन्द की अभीप्सा लिये भवदेव पुनः एकबार निकल पड़े।

थावरच्चा-पुत्र

थावरच्चा-पुत्र एक दिन छत पर खड़ा था। खड़ा-खड़ा सुदूर आकाश को निहार रहा था।

उस समय संध्या होने में अधिक देर नहीं थी। अपराह्न का आलोक क्रमशः धूसर हो रहा था। पक्षीगण नीड़ों की ओर लौट रहे थे। आंवले के गाछ की ऊपरी शाखा पर चाँद चमक रहा था। नीम-वृक्ष के पत्ते रह-रहकर मर-मर करते हुए काँप रहे थे।

थावरच्चा-पुत्र न जाने क्या सोच रहा था ? किन्तु मधुर कण्ठ से गाया हुआ गीत ज्योंही उसके कानों में पड़ा वह सजग हो उठा। उसे लगा जैसे कुछ लोग एक साथ मिलकर गा रहे हैं। अधिक दूर नहीं, समीप ही। मन्द-मन्द हवा में प्रवाहित हो रहा था वह गीत। और प्रवाहित होते हुए उस गीत ने आविष्ट कर लिया था थावरच्चा-पुत्र को। उसे ऐसा लग रहा था कि इतना मधुर गीत तो उसने जीवन में कभी नहीं सुना। चाँद की रूपहली चाँदनी के लावण्य में जिस प्रकार आकाश की सीमा खो जाती है उस गीत में भी उसी प्रकार समस्त सीमाएँ एकाकार हो गई थी, जो कि उतना ही स्निग्ध था, उतना ही मधुक्षरा था।

विस्मय विमुग्धता के मिटते ही थावरच्चा-पुत्र दौड़कर माँ के पास

आया। उसके कोमल मन में रह-रहकर यही प्रश्न उठ रहे थे, कैसा गीत है? कौन गा रहा है? क्यों गा रहा है? उसका समाधान किए बिना वह रह न सका। और एकमात्र माँ को छोड़कर उसके इतने प्रश्नों का समाधान करेगा भी कौन? क्योंकि उम्र में बहुत छोटा जो था वह।

एक साथ इतने प्रश्नों को सुनकर माँ उसके पागलपन पर हँस पड़ी। कहने लगी, हैं रे! यदि मैं नहीं होती तो तू क्या करता? फिर कुछ रुककर बोली, उस मुहल्ले की सुषमा के घर में बच्चा होने वाला था, उसी बच्चे का जन्म हुआ है। इसीलिए सब मिलकर गा रहे है। आनन्द मना रहे हैं।

इस खबर को सुनते ही थावरच्चा-पुत्र का चेहरा खिल उठा। कहने लगा, अच्छा! पुत्र होने पर गाना गाते है? आनन्द मनाते है?

अपने पुत्र के बालों की उलझी हुई गुत्थी को सुलझाते हुए एवं सिर सहलाते-सहलाते बोली, मनाते ही हैं। मनाएँगे नहीं?

थावरच्चा-पुत्र का मुख जैसे और उद्भासित हो उठा। कहने लगा, मेरे जन्म पर भी क्या ऐसा ही गीत हुआ था?

होगा नहीं! निश्चय ही हुआ था—कहती हुई माँ हँस पड़ी। फिर बोली, इससे भी बढ़िया हुआ था, और अधिक हुआ था।

थावरच्चा-पुत्र उसी क्षण दौड़कर पुनः छत पर चला गया और छत की दीवाल के सहारे खड़े होकर उस गीत को सुनने लगा।

थावरच्चा-पुत्र उस समय न जाने क्या सोच रहा था। सम्भवतः सोचता होगा सन्तान जन्म होने पर मनुष्य को कितना आनन्द होता है।

किन्तु नहीं, जिस गीत को सुनकर वह नीचे दौड़कर गया था, यह

सुषमा के घर में बच्चा होनेवाला था उसी बच्चे का जन्म हुआ है।
इसीलिये सब मिलकर गा रहे हैं।

वह गीत नहीं है। इसमें कहा है वह माधुर्य? कहाँ है वह स्निग्धता? यह गीत तो मार्मिक व्यथा से उद्भूत है जो कि आँखों में अश्रु लाता है

थावरच्चा-पुत्र एक टक आकाश को देखने लगा। अनतिस्फुट चन्द्र-ज्योत्सना आकाश के अंग में लगी हुई है। फिर भी उसे लगा कि जैसे आकाश की प्रशान्ति कहीं नष्ट हो गई है। और रह-रहकर किसी का श्वास अवरुद्ध करने वाला क्रन्दन हवा में फूट रहा है।

थावरच्चा-पुत्र के मन में पुनः प्रश्न उठा कि ऐसा क्या हुआ जिससे मुहूर्त्त मात्र में सब कुछ परिवर्तित हो गया? क्या वही सब, वही गीत गा रहे हैं? वह फिर माँ के पास दौड़कर आया।

उसने देखा माँ जमीन पर बैठी है। उसकी आँखों से टप-टप जल गिर रहा है। थावरच्चा-पुत्र ने पुकारा, माँ, माँ!

माँ ने पलकें उठाकर ज्योंही उसे देखा, शीघ्रता से आँसुओं को पोंछ डालना चाहा किन्तु पूर्णतः पोंछ न सकी। आँखों के कोने में छलके हुए आँसू प्रदीप के प्रकाश में झल-झल करने लगे। थावरच्चा-पुत्र उसी ओर देखता हुआ चुपचाप खड़ा रहा। उसके मन की बात समझने में माँ को देर न लगी। अतः सस्नेह उसे खींचकर हृदय से लगा लिया। बोली, वह गीत नहीं है—यही तो? फिर स्वतः ही कहने लगी, सुषमा के परिवार का वह लड़का सबको छोड़कर चला गया।

छोड़कर चला गया? कहाँ गया? उसे जाने क्यों दिया? अब वह फिर कब आएगा?—इसी प्रकार के अनेक प्रश्न थावरच्चा-पुत्र माँ से करने लगा।

पुत्र के इन प्रश्नों को सुनकर अश्रुओं के बीच ही माँ हँसने लगी। बोली, पागल कहीं का।

किन्तु इतने से वह माननेवाला नहीं था। अतः उसे पूर्ण वृतान्त समझाना पड़ा। कहना पड़ा, मृत्यु आकर उसे ले गई। अब वह कभी नहीं लौटेगा।

यह सुनते ही थावरच्चा-पुत्र का मुख उदास-सा हो उठा। फिर न जाने क्या सोचकर माँ से पूछने लगा, क्या सभी की मृत्यु हो जाती है, माँ?

पुत्र की छलछलाती हुई आँखें देखकर माँ कुछ आशंकित हो उठी। एतदर्थ उसकी बात का जवाब न देकर पुनः उसे कसकर छाती से लगा लिया। बोली, छोड़ इन सब बातों को।

नहीं माँ, बताओ। यह कहकर माँ के मुख की ओर देखने लगा। बोला, माँ क्या मेरी भी मृत्यु होगी?

किन्तु भला माँ अपने पुत्र से यह कैसे कहे। किन्तु बताए बिना छुटकारा भी तो नहीं था। अतः धीरे से बोली, हाँ, एक दिन सभी की मृत्यु होगी। मैं भी तो सदैव नही रहूँगी।

जब थावरच्चा-पुत्र ने सुना एक दिन सब की मृत्यु होगी, सदैव कोई नहीं रहेगा, मृत्यु एकदिन सब को ले जाएगी, तब तो यह संसार व्यर्थ है, जिसमें हम उलझे हुए हैं। वह कितना अर्थहीन है। साथ ही साथ उसके मन में यह प्रश्न भी जागृत हुआ कि क्या संसार में ऐसी कोइ वस्तु नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर सके? कह सके, अब मुझे मृत्यु भय नहीं। मैंने मृत्यु को जीत लिया है।

उस दिन से थावरच्चा-पुत्र संसार से विरक्त-सा रहने लगा। तदुपरान्त जिस दिन उसे श्रमण अरिष्टनेमि से मुक्तिपथ का सन्धान मिला, उसी दिन संसार परित्याग कर अरण्य में चला गया।

मल्ली

कोशल-नरेश प्रतिबुद्धि पधारे पटरानी पद्मावती की नाग पूजा में। वहाँ के समस्त आयोजन एवं सर्व प्रकार की साज-सज्जा में यदि वे किसी वस्तु से प्रभावित हुये तो वह थी पचरंगी फूलों की माला। सहसा बोल पड़े, ऐसी माला तो मैंने कभी नहीं देखी।

मन्त्री ने कहा, यदि आप अभय करें तो मैं कुछ कहूँ।

राजा अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगे।

मन्त्री ने कहा, उस दिन विदेह-कुमारी मल्ली के जन्म दिन पर जो माला देखी थी उसके सम्मुख यह कुछ नहीं है। माला क्या थी मानों आकाशी इन्द्रधनुष!

राजा ने उत्सुकता से पूछा, लड़की कैसी है?

मन्त्री ने कहा, अत्यन्त रूपवती।

अब राजा का मन किसी कार्य मे नहीं लग रहा था। घर आते ही विदेह-राज के पास यही संदेश लेकर दूत भेजा, मल्ली मुझे चाहिये ही।

व्यापार से लौटते ही अरहन्नक भेंट लेकर राजसभा में उपस्थित

हुआ। अंग-राज चन्द्रछाया ने उसे अपने पास बैठाकर पूछा, कहो इस बार कौन सी आश्चर्यजनक वस्तु देखी ?

वणिक ने कहा, इसबार सर्वाधिक आश्चर्य के रूप में देखा विदेह-कुमारी मल्ली को। उसके रूप की ख्याति सुन देवप्रदत्त कुण्डल लेकर मैं विदेह-राज के पास गया। कुण्डल देखते ही उन्होंने मल्ली को पुकारा और मेरे सम्मुख ही उसे वे कुण्डल पहना दिये। विधाता की उस आश्चर्यजनक सृष्टि को मैं देखता ही रह गया। मन कह उठा, अतुलनीय! अनुपम !

यह सुनकर अंग-राज स्थिर न रह सके। तुरन्त विदेह-राज को दूत से कहलवाया, उन्हें मल्ली चाहिये।

कुणाल देश की राजकुमारी जल-क्रीड़ा समाप्त होने के पश्चात् अपने पिता को प्रणाम करने गयी।

शिशिर के स्निग्ध प्रकाश में उज्वल प्रातः-कालीन दिगन्त-रेखा की भाँति तिरछी थी उसकी आँखों की पलकें। चरणस्पर्श कर प्रणाम करती हुई वह चली गयी।

लौटते समय प्रकाश की छाया में कुछ क्षणतक वह दृष्टिगोचर होती रही।

कुणाल-राज रुक्मि ने न जाने क्या सोचा। फिर दूत को बुलाकर पूछा, राज्य की खबरें लेकर तुम तो अनेक देशों में गये हो। जरा बताओ तो उसके जैसी रूपवती कहीं देखी ?

प्रत्युत्तर में दूत ने कहा, राजकुमारी अवश्य ही रूपवती है किन्तु

ओह ! विदेह-कुमारी मल्ली का क्या अंगलावण्य था। मानो द्राक्षलता में अंगूर का गुच्छा !

यह सुनते ही रुक्मि अन्यमनस्क से हो उठे। अब वही संदेश लेकर उनका भी दूत विदेह गया, मल्ली उन्हें चाहिये ही।

काशी-राज शंख का आश्रय लेने विदेह से स्वर्णकार आये। उनकी याचना सुनकर राजा ने आने का कारण पूछा।

उन्होंने जवाब दिया, विदेशी अरहन्नक राजकुमारी को देवदत्त कुण्डल दे गये थे, उसकी एक कड़ी न जाने कैसे अलग हो गयी और हम अपनी समस्त चेष्टाओं के पश्चात् भी उसे जोड़ने में असमर्थ रहे। तब राजा क्रुद्ध होकर बोले, कैसे कारीगर हो तुमलोग ? अतः विदेह में हमारा रहना कठिन था। किन्तु आप ही बताइये, इसमें हमारा क्या दोष ?

राजा ने कहा, कुछ भी नहीं। किन्तु राजकुमारी देखने में कैसी है ?

जैसे श्वेत गुलाब की पुष्पवर्षा !

यह सुनते ही काशी-नरेश शंख ने भी विदेह दूत भेजा वही संदेश लेकर, मल्ली मुझे चाहिये।

विदेह से विताड़ित होकर एक चित्रकार आया। कुरु-नरेश अदीनशत्रु के सम्मुख उपस्थित होकर वह बोला, मुझे आश्रय चाहिये।

यह सुनकर राजा ने कहा, आश्रय तुम्हें अवश्य दूँगा। किन्तु यह तो स्पष्ट करो कि वहाँ से तुम्हें क्यों निकाला गया ?

चित्रकार ने जबाब दिया, मैं विदेह-कुमार के केलिगृह में चित्र बना रहा था। सहसा एक आवाज सुनकर ज्योंही दरवाजे की ओर मुड़ा तो खूब दूरी पर किसी को गुजरते हुए देखा। कौन गया यह तो मैं नहीं जान सका। किन्तु मेरे मन में समा गया उस रूपसी के चंचल चरणों का गति सौन्दर्य। जो कुछ मैंने देखा उसी के आधार पर एक चित्र बनाया। दूसरे दिन ही विदेह-कुमार ने मुझे बुला भेजा। कहने लगे, केलिगृह में मेरी वहन मल्ली का चित्र क्यों? मैंने कहा, यह तो मुझे मालूम नहीं। किन्तु उन्होंने मेरी कोई बात नहीं सुनी और उसी क्षण मुझे विदेह से निकल जाने को कहा। इसलिये मुझे आना पड़ा। वाद में ज्ञात हुआ कि उस चित्र को ही यह समझ कर कि उनकी वहन मल्ली केलिगृह में आयी हुयी है वे बहुत लज्जित हुये थे।

अदीनशत्रु ने कहा, मुझे तो तुम्हारी क्षमता पर बड़ा ही आश्चर्य है! केवल एक अंग देखकर पूरा चित्र बना दिया!

चित्रकार हँसने लगा।

अदीनशत्रु ने आग्रहपूर्वक कहा, क्या और एकवार मल्ली का चित्र वनाकर दिखा सकते हो?

चित्रकार ने कहा, क्यों नहीं।

चित्रकार ने चित्र वनाकर राजा के हाथ में दिया।

अदीनशत्रु ने चित्र हाथ में लेकर देखा तो ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे शरीर नहीं, कोई पुष्पमंजरी है!

अब अदीनशत्रु भी विदेह-राज के पास दूत भेजे विना नहीं रह सके। वही याचना थी, मल्ली मुझे चाहिये ही।

पंचाल-राज जितशत्रु के अन्तःपुर में परिव्राजिका आयी। राजा ने उसका खूब आदर सत्कार किया। खूब चर्चाएँ हुईं। जाने के समय परिव्राजिका ने कहा, मैं अनेक राजाओं के अन्तःपुर में गयी किन्तु विदेह-कुमारी मल्ली के जैसी रूपवती कहीं नहीं देखी। राजकुमारी क्या थी जैसे सन्ध्याकालीन नक्षत्र!

यह सुनकर जितशत्रु ने भी विदेह-राज के पास के दूत भेजा। उन्हें मल्ली चाहिये।

विदेहराज सभा में एक साथ काशी, कोशल, अंग, कुणाल कुरु एवं पंचाल के दूत पहुँचे। जब विदेह-राज ने सभी के मुख से एक ही बात सुनी तो प्रहरी को पुकार कर बोले, हटाओ इन सब को यहाँ से।

इसके बाद काशी, कोशल, अंग, कुणाल एवं पंचाल के मध्य दूतों का आवागमन हुआ और सभी ने मिलकर विदेह पर आक्रमण कर दिया। विदेह-राज एक साथ छः वाहिनी से युद्ध करने को प्रस्तुत नहीं थे। अतः निरुपाय होकर उन्हें दुर्ग का द्वार बन्द करवाना पड़ा।

शाम को मल्ली कुम्भ के सम्मुख उपस्थित हुयी। उसने कहा, पिताजी, आप इतने चिन्तित क्यों हैं? आप उनमें से प्रत्येक को कहलवा दीजिये कि आप मुझे उन्हें सौंपेंगे, इसलिये वे दुर्ग में अकेले आयें। उनके दुर्ग में आने के पश्चात जो कुछ करना होगा वह मैं कर लूँगी।

कुम्भ मल्ली की ओर देखते रह गये। उन्होंने मल्ली की आँखो में वह ज्वलन्त आत्म-विश्वास देखा जिससे पर्वत को भी हटाया

मल्ली ने हँसकर कहा, खूब सुन्दर है-ना ?

जा सकता है, समुद्र से भी पथ मिल सकता है। अतः वे बोल उठे, ठीक है।

दूसरे दिन जब विपक्षियों के शिविर में यह सन्देश पहुँचा तो परस्पर परामर्श की अपेक्षा न रख के उसी दिन शाम को दुर्ग में जाने के लिये सभी सम्मत हो गये।

तदुपरान्त सन्ध्याकालीन समीर सुदूर से आनेवाली रजनीगन्धा की गन्ध से जब सुवासित हो उठी, तब छहों राजा एक साथ मल्ली के घर पहुँचे। एक दूसरे की तरफ देखकर वे सोचने लगे, आखिर क्या बात है? किन्तु इसके लिये कोई किसी से कुछ पूछ न सका।

कक्ष के मध्य रखी हुई थी मल्ली की स्वर्ण निर्मित प्रतिकृति। प्रतिमा क्या थी मानों सुदक्ष शिल्पी की सार्थक सृष्टि! आँख फिराये नहीं फिरती थी।

मल्ली ने हँसकर कहा, खूब सुन्दर है-ना? तत्पश्चात् मल्ली प्रतिकृति का मुख खोल देती है। क्षण भर में सारा कक्ष दुःसह सड़ी हुई गन्ध से भर उठा। मल्ली ने प्रतिकृति के मुख को ठीक से बन्द करते हुये कहा, शरीर भी इसी प्रकार विश्वास-घातक है।

मल्ली प्रतिदिन खाने के समय एक ग्रास उस प्रतिमा के भीतर डाल देती थी। उसी की सड़ी गन्ध थी वह।

वातायन के बाहर झाउगाछ के पीछे तृतीयाका चाँद चमक रहा था। उसी विरल अन्धकार से जैसे आवाज आयी, बाहरी रूप केवल धोखा है। उसकी ओट में जो कुछ है वह है मेद, मांस, मज्जा और रुधिर, जो कि सभी इसी प्रकार कुत्सित हैं, दुर्गन्धयुक्त है।

मल्ली के इस कार्य से काशी, कोशल, अंग, कुणाल, कुरु एवं पंचाल-राज, सभी को जातिस्मरण ज्ञान हो गया।

धूँधले अतीत में उन्होंने एक साथ उत्तरण की तपस्या की थी। एवं उसी उत्तरण पथ पर एकबार फिर वे एक साथ आ खड़े हुये हैं। वे अनन्त अमृत, अव्याबाध आनन्द के अधिकारी हैं। फिर क्यों जो उन्हें अमृतत्व में प्रतिष्ठित न करें, आनन्द से अभिषिक्त न करें उसीसे चिपके रहें? इसलिये संसार त्यागकर वे एक साथ प्रव्रजित हो गये।

बाहुवली

चक्रवर्ती सम्राट बनने की इच्छा से भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत समस्त भारत पर विजय प्राप्त कर घर लौटे। वे सर्वत्र विजयी हुये।

देश लौटते समय अचानक याद आया कि उनके अनुज बाहुवली का आनुगत्य अब तक उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है।

भरत ने बाहुबली को आमन्त्रित करने के लिये तक्षशिला दूत भेजा। वे सोच रहे थे कि बाहुबली सहज ही उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेगा।

किन्तु जैसा भरत ने सोचा था वैसा हुआ नहीं। तक्षशिला से यह सम्वाद लेकर दूत लौटा, बाहुवली को अयोध्या आने में कोई आपत्ति नहीं और विशेष रूप से जब कि भरत ने उन्हें आमन्त्रित किया है, किन्तु एक सामन्त के रूप में तक्षशिला लौटने को बाहुवली कदापि तैयार नहीं।

इस बात को सुनकर भरत का चेहरा आरक्त हो उठा। तुरन्त सेनापति को बुलाकर कहा, तक्षशिला को ऐसी शिक्षा देनी होगी ताकि वह भरत को कभी न भूल सके।

तत्पश्चात् बहुत दिनों तक युद्ध होता रहा। अनेक व्यक्ति मारे गये। किन्तु जय और पराजय का निर्णय नहीं हो सका।

भरत ने जब देखा कि जितनी सेना लेकर तक्षशिला आये थे, वह बहुत कम बच पायी है, तब वे चिन्तित हो उठे।

उस दिन युद्ध बन्द होने के पश्चात् संध्या के समय जब बाहुबली भरत के शिविर में यह जानने के लिये आये कि भरत कैसे हैं, उन्हें कोई असुविधा तो नहीं है, तब भरत ने कहा, बाहुबली, इस युद्ध में दोनों की ही शक्ति क्षय हो रही है। इस प्रकार युद्ध करके क्या लाभ होगा ? हम अपने विरोध का निर्णय द्वन्द युद्ध करके क्यों न कर लें ?

बाहुबली ने कहा, आप ठीक ही तो कह रहे हैं। मैं भी यही सोच रहा था।

फिर दोनों ने बैठकर यह स्थिर किया कि द्वन्द युद्ध किस प्रकार करें।

किन्तु जिन पाँच प्रकार से द्वन्द युद्ध होना तय हुआ था उन चार में तो भरत पराजित हो गये। शेष बचा था मुष्टि युद्ध। बाहुबलो ने कहा, पहले आप प्रहार कीजिये। मेरा प्रहार सहन करने की शक्ति आप में नहीं है।

भरत अब तक यह समझ चुके थे कि वास्तव में वह शक्ति उनमें नहीं है, अतः उन्होंने ही प्रथम प्रहार किया।

उस प्रहार से बाहुबली घुटने तक मिट्टी में धँस गये। किन्तु तुरन्त ही वे उछलकर उठ खड़े हुये।

अब बाहुबली के प्रहार करने की बारी थी। उन्हें मुष्टि कसते देखकर भरत भयभीत हो गये। और यह जानते हुये भी कि ऐसा करना अन्याय है वे चक्र निक्षेप कर बैठे।

किन्तु चक्र व्यर्थ होकर पुनः भरत के पास लौट आया। क्योंकि चक्र स्वजन को हनन नहीं करता।

भरत के इस अन्यायपूर्ण आचरण से बाहुबली क्रुद्ध हो उठे। भरत पर प्रहार करने के लिये फिर मुष्टि कसी।

किन्तु, न जाने क्यों, क्या से क्या हो गया। अचानक उनकी आत्मा जाग्रत हो उठी। वे देखने लगे, अपनी आत्मा में कितना आनन्द है, जहाँ न मान अपमान की धूल का स्पर्श है, न अहंकार के गह्वर हैं।

फिर किसलिये वे भरत की हत्या करें। उनकी आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगा।

बाहुबली की मुष्टि स्वतः ही खुल पड़ी।

एक क्षण के लिये न जाने बाहुबली ने क्या सोचा। फिर भरत को पुकार कर कहा, यह लो तक्षशिला का राज्य। इस राज्य से मुझे क्या मिलेगा? मैं तो उस राज्य की खोज में जा रहा हूँ जिस राज्य को प्राप्तकर अक्षय सुख का अधिकारी बना जा सकता है।

श्रमण बनकर बाहुबली ने कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। वे ध्यान में इतने निमग्न हो गये कि उनकी देह पर लताएँ चढ़ आयीं। सिर एवं दाढ़ी में पक्षियों ने अपने घोंसले बना लिये।

भगवान ऋषभदेव की दो कन्याएँ थीं ब्राह्मी और सुन्दरी। बहुत दिन पूर्व ही वे संसार का परित्याग कर साध्वी बन चुकी थीं। एक दिन उन्होंने भगवान ऋषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली इस समय कहाँ है? क्या उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है?

भाई, हाथी पर सवार रहकर अनामय पद नहीं प्राप्त किया जा सकता।

ऋषभदेव जरा मुस्कराये। बोले, नहीं, वह अभी भी ध्यानमग्न है। एक साधारण सा अन्तराल उसके प्रकाश के आवरण को क्षय नहीं होने देता।

उन्होंने पुनः प्रश्न किया, वह अन्तराल क्या है?

ऋषभदेव ने कहा, वह है एक सामान्य सा अभिमान। श्रमणसंघ के नियमानुसार पूर्व दीक्षित अनुजों को वन्दना करनी पड़ेगी, इसीलिये वह आजतक यहाँ नहीं आ पाया। यह अभिमान जिस दिन दूर होगा, उसी दिन उसके प्रकाश के समस्त आवरण क्षय हो जायेंगे।

बाहुबली जहाँ तपस्या कर रहे थे, ब्राह्मी और सुन्दरी वहाँ पहुँचकर गीत गाने लगी, भाई, हाथी पर सवार रहकर अनामय पद नहीं प्राप्त किया जा सकता।

दिन भर उन्होंने यही गाया एवं तारों से भरी रात्रि के अन्धकार में भी वे यही गाती रहीं।

धीरे-धीरे वह गीत बाहुबली के कानों में पहुँचा। बाहुबली की समाधिमग्न चेतना शनैः शनैः लौटी। वे सोचने लगे, क्या मैं हाथी पर सवार हूँ? कहाँ है वह हाथी? किन्तु साध्वियाँ तो झूठ नहीं बोलतीं। वे पुनः सोचने लगे।

आखिर गीत का भाव उनके सम्मुख स्पष्ट हो उठा। वे समझ गये कि अभिमान ही वह हाथी है। और अभिमान का परित्याग किये बिना अनामयपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसबार बाहुबली ने अपने अन्तर में झाँका। कैसा अभिमान? कहाँ है वह अभिमान? तदुपरान्त तीव्र आत्मनिरीक्षण द्वारा उन्होंने

आत्मानुभूति प्राप्त की। अपने अभिमान के सत्य स्वरूप को समझने में वे समर्थ हुए। वे सोचने लगे, छिः! छिः! कितनी लज्जा की बात है यह कि इतने से तुच्छ अभिमान ने मेरी दृष्टि को आच्छादित कर रखा था।

तदुपरान्त निराभिमान मन से ज्योंही उन्होंने ऋषभदेव के पास जाने को पैर उठाया, त्योंही प्रकाश के समस्त आवरण क्षय हो गये।

स्थूलभद्र

चातुर्मास में जाने के पूर्व अल्पवयस्क श्रमण आचार्य से विदा लेने आये।

एक ने कहा, प्रभो, मैं सूखे कुएँ की काष्ठ-पट्टिका पर बैठकर जप करूँगा।

दूसरे ने कहा, प्रभु! मैं उस अन्धकारमयी गुफा के द्वार पर जहाँ कि सिंह रहता है खड़े होकर ध्यान करूँगा।

किसी अन्य ने कहा, प्रभो! पहाड़ के उस विवर के पास जिसमें अजगर रहता है मैं खड़े होकर तपस्या करूँगा।

सबसे छोटे थे स्थूलभद्र। उन्होंने न जाने क्या सोचकर कहा, प्रभो! मैं कोशा की नृत्यशाला में इस व्रत का उद्यापन करूँगा।

यह सुनकर सभी के मुख पर एक व्यंगात्मक हास्य फूट पड़ा। यह वही है कोशा, जिसके प्रेम में पड़कर स्थूलभद्र ने बारह वर्षों तक गृह परित्याग कर दिया था। आज भी उसी को यह भूल नहीं सका है। कितना लज्जास्पद है यह!

किन्तु, आचार्य ने कहा, ठीक है। उनके मुख पर परिवर्तन की एक क्षीण रेखा भी दृष्टिगोचर नहीं हुयी।

कोशा की नृत्यशाला के द्वार पर आ खड़े हुए स्थूलभद्र।

उन्हें देखते ही शीघ्रता से परिचारिका सामने आयी। उसने सोचा अवश्य ही ये राह भूलकर आये हैं। प्रणाम करके बोली, प्रभो! यह तो गणिका का घर है।

स्थूलभद्र ने कहा, मैं जानता हूँ।

यह कैसी अनहोनी बात! परिचारिका के विस्मय की सीमा न रही। कहने लगी, आपका नाम?

नाम? भला श्रमण का क्या नाम?

परिचारिका लज्जित होकर सम्वाद देने गयी।

बिखरी हुयी केशराशि में ग्रन्थिपाश देते हुये ज्यों ही कोशा उठने लगी कि श्रमण को आते देख ठिठक गयी। अरे! इन्हें यहाँ आने का रास्ता कैसे मालूम हो गया! तभी हठात् उसे लगा कि इस मनुष्य को कहीं देखा है। किन्तु कहाँ देखा वह स्मरण न कर सकी। और करती भी कैसे? जिन नेत्रों में कभी प्रणय की विह्वलता रहती थी, उन्हीं नेत्रों में थी सान्ध्यतारा-सी प्रशान्ति। तभी तो भूल हो गयी।

स्थूलभद्र बोले, तुम्हारे यहाँ चातुर्मास व्रत का उद्यापन करने आया हूँ, कोशा।

'कोशा'—चिरपरिचित स्वर में निज नाम को सुनते ही कोशा की सुप्त स्मृति के तार एकबारगी झंकृत हो उठे। जिसे वह चाहती थी, जो व्यक्ति इसी नाम से दिन-रात उसे पुकारा करता था, भला उसे कैसे नहीं पहचान पाती?

बोली, तुम! स्थूलभद्र!

हाँ ! मैं। मुझे भूल गयी हो कोशा ?

कोशा के पदतलों से धरती खिसकने लगी। आँखों के आगे अन्धकार छा गया। क्या वह भूल सकती है स्थूलभद्र को ? जिसकी अनवरत प्रतीक्षा में न जाने कितने दिन और कितनी ही रातें आँखों में कट गयीं। क्या नहीं सोचा था उसने इस दिन के लिये। कितनी रंगीन कल्पनाएँ संजोयी थी उसने इसी दिन के लिये। तभी अचानक उसकी दोनो आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। तदुपरान्त संज्ञाहीन-सी होकर धरती पर गिर पड़ी।

जब उसे होश आया तो सोचने लगी, कहीं यह सब स्वप्न तो नहीं है ? जिस आवेग में मैं स्थूलभद्र की प्रतीक्षा कर रही थी उसी का विभ्रम तो नहीं है यह ?

स्थूलभद्र ने कहा, अनुमति दो कोशा।

कोशा मुँह फिराकर आकाश को निहारने लगी। विभिन्न आकृतियों में परिवर्तित होती हुयी,प्रवाहित होती हुयी,मेघमालाओं को वह एकटक देखती रही। किन्तु उस देखने में मन का कोई मिलाव नहीं था। आज वही व्यक्ति उसके पास आया है जो कि समीप होकर भी दूर है। इसी वेदना ने उसके हृदय को उद्वेलित कर रखा था।

कोशा ?

कोशा ने मुँह घुमाया। बोली, देखो, इस प्रकार मुझे जलाओ मत। जब रहने आये हो, तो नृत्यशाला में ही रहोगे ?

स्थूलभद्र ने कहा, क्या हानि है ? किन्तु हाँ, तुम्हारी बहुमूल्य छोटी-बड़ी वस्तुएँ....

उन सबके लिये तुम्हें कोई भय नहीं, वह सब मैं समझ लूँगी।

भय कैसा कोशा? यदि भय ही होता तो मैं यहाँ आता नहीं। फिर भी हमारा आचार-विचार....

वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही कोशा कह उठी, बारह वर्षों तक कहाँ था आचार और कहाँ था तुम्हारा विचार? उस स्वर में प्रश्न नहीं था, था तीक्ष्ण व्यंग। तुम से सदाचार का पाठ नहीं पढ़ सकूँगी। मैं तुम्हें जानती हूँ, प्रभो!

स्थूलभद्र ने कहा, कोशा! तब मैं अन्धकार में था। मोह के कठिन आवरण के कारण, मछली जिस प्रकार जल की गहराई में ही डूबी रहती है मैं भी उसी प्रकार निमग्न था तुम्हारे प्रेम में। मैं भूल गया था कि मैं कौन हूँ? और कहाँ है मेरा घराना?

तो ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अज्ञान के गृह में क्यों आये हो? अवश्य ही तुम्हारे हृदय के किसी कोने में कोई-न-कोई लालसा अब भी अवशेष है। मेरा प्रेम श्वेत पुष्पों की वर्षा न कर काँटों की अभ्यर्थना करेगा यह तुमने क्यों नहीं सोचा?

नहीं कोशा, मैंने सत्य का सन्धान पा लिया है। तुम्हें भी उसी पथ पर ले जाने आया हूँ।

मुँह फिराकर कोशा बोली, देखा जायेगा।

स्थूलभद्र के अधरों पर स्निग्ध कोमल हास्य बिखर पड़ा।

स्वर्ण थाल में भोजन सजाकर कोशा स्वयं स्थूलभद्र के पास पहुँची। पायल की रुणझुण एवं कंकण की कणकण ध्वनि से नृत्यशाला

मुखरित हो उठी थी। धूप के धूम्र से सुवासित केशों की सुगन्ध में सारा वायुमण्डल बोझिल हो रहा था।

थाल नीचे रखकर कोशा बोली, ओ ध्यानीजी! भोजन ले आयी है तुम्हारी दासी।

स्थूलभद्र ने आँखें खोलीं तो सम्मुख पाया शृंगार की रंगस्थली कोशा को। उसके शुभ्र ललाट पर था कुमकुम का बिन्दु, राजिव नयनों में थी काजल की सूक्ष्म रेखा। गले में पहना हुआ था उन्हीं का दिया हुआ बहुमूल्य मुक्ताहार। और कानों में लटक रहे थे माणिक्यजड़ित कुण्डल। ईषत् आवेग में काँप रहा था रक्त-वर्णीय कंचुकी का उच्छ्वसित बासन्ती छोर।

तुम्हारे लिये भोजन लायी हूँ। अरे! इस प्रकार क्या देख रहे हो? शीघ्रता से दो ग्रास मुख में डाल लो, तुम्हारा ध्यान का समय बीता जा रहा है।

न जाने कितने ही वाक्य एक साथ बोल गयी कोशा। किन्तु, स्थूलभद्र की भावनाओं में कोई चांचल्य नहीं आया। धीरे-धीरे कहने लगे, ये सब मेरे लिये? तुम्हारा सब आयोजन व्यर्थ हो गया कोशा।

व्यर्थ क्यों हो गया? ये ही सब वस्तुएँ तो तुम्हें किसी दिन पसन्द थीं।

स्थूलभद्र मुस्कुराने लगे। बोले, मैं श्रमण हूँ। मेरे लिये बनाये गये भोज्य पदार्थों को मैं ग्रहण नहीं कर सकता। सबके खाने के पश्चात् जो कुछ बचेगा वहीं इधर-उधर से प्राप्त कर लूँगा।
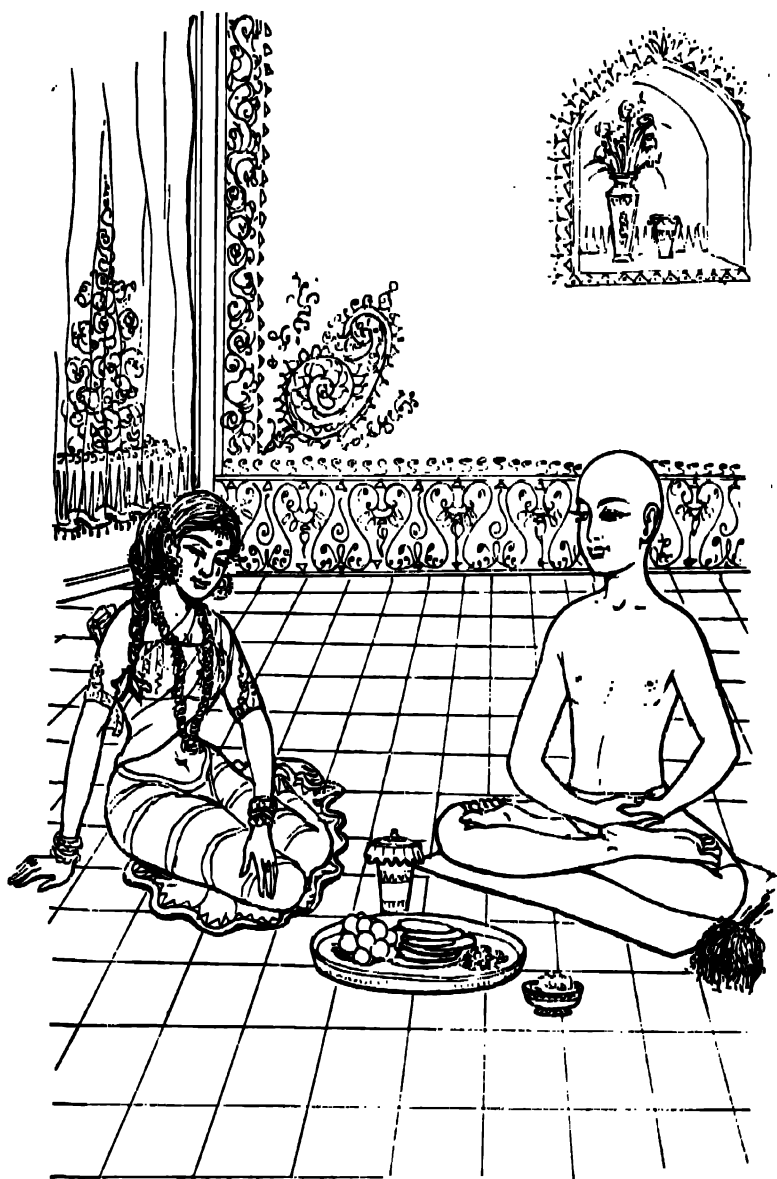
कोशा के उभय नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा बह चली। कहने लगी,
तुम मुझे क्यों सता रहे हो ?

कोशा के उभय नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा वह चली। कहने लगी, तुम मुझे क्यों सता रहे हो? क्या तुम भिक्षा माँगोगे?

इतनी दुःखित मत हो कोशा, यही तो श्रमण का जीवन है।

कोशा वहाँ से उठकर चली गयी। स्वर्णथाल में सुसज्जित भोज्य पदार्थ बिना छुए ही पड़े रहे।

बाहर वर्षा हो रही थी। चतुर्दिक छाया था रात्रि का सघन अन्धकार। समस्त वायुमण्डल सुवासित था वनमल्लिका की गन्ध से। शैय्याशायिनी कोशा के मस्तिष्क में अतीत की मधुर स्मृतियाँ उभर रही थीं। उसे स्मरण हो आया वह दिन, जिस दिन तरुणाई ने प्रथम बार अंगड़ाई ली थी, जबकि पाटलीपुत्र के हर नवयुवक के अधरों पर उसी के उन्माद भरे यौवनकी चर्चा थी। शायद ही कोई नहीं उझल पाया होगा अनंग के उस अलक्ष्य जाल में। वासना की उस तप्तवाष्प में झुलस रहे थे सभी युवक हृदय। तभी हठात् एक दिन आये थे मन्त्रि-पुत्र स्थूलभद्र। कितने विलक्षण थे उनके नेत्र! न जाने किस क्षण निरंध्र प्राचीर को भेदकर हृदय में समा गये थे स्थूलभद्र। अतः मुग्धों का उमड़ता दल पा न सका कोशा को। क्योंकि सबकी कोशा हो चुकी थी एकमात्र स्थूलभद्र की। एतदर्थ अन्य सभी रसिकों के लिए अब कोशा के द्वार बन्द थे।

आखिर वह दुर्दिन भी आया जिस दिन राजाज्ञा पाकर चले गये थे स्थूलभद्र। राजा के आदेश से मन्त्री की हत्या कर दी गयी थी और उसी पद पर नियुक्त होने वाले थे स्थूलभद्र। किन्तु राजसभा से एक

दिन वे कहाँ चले गये, कोई जान न सका। फिर भी कोशा का मन कहता था स्थूलभद्र अवश्य लौटेंगे। क्योंकि वे एकमात्र उसी के जो थे। इसीलिये नवीन प्रेमियों के नूतन आमन्त्रणों की उपेक्षा कर वह वियोग की कठोर वेदना में ही विरह-शीर्ण दिनों को व्यतीत कर रही थी। और आज जबकि अश्रु भरे हृदयाकाश की मेघावलियाँ हवा में चंचल होकर काँप रही हैं, अविचलित हैं स्थूलभद्र।

किन्तु नहीं, कोशा हार नहीं मानेगी। अर्धरात्रि के समय जबकि समीर के प्रबल प्रवाह में गृह-कपाट खड़-खड़ करते हुए काँप रहे थे, कोशा ने अपनी अलकों में सुरभित कुसुमों की वेणी गूँथी, और आ खड़ी हुयी स्थूलभद्र के सम्मुख।

कोशा बोली, झिंगुर की झंकार में वेणुवन का अन्धकार भी जब थर्रा उठा, काँप-काँप कर गृह प्रदीप भी जब बुझ गया तब रोक न सकी मैं अपने को। स्थूलभद्र ! चिर-विरह की इस मार्मिक वेदना को आपूरित कर दो तुम्हारे मधुर स्पर्श से।

किन्तु, ध्यान भंग न कर सकी कोशा।

पूर्णिमा का दिन था। कोशा का तन-मन आज अपूर्व माधुर्य के आवेग में आवेष्टित था। सन्ध्या से ही स्थूलभद्र के सम्मुख बैठी थी सम्मोहन की सूत्र-धारिणी कोशा। न जाने कौन से विचारों में खोयी-सी, ठगी-सी, हारी-सी। उसने अल्पना में सहस्रदल कमल चित्रित किया, सुन्दर वर्णों से उसे रंजित किया। तदुपरान्त समस्त रात्रि तालों की वह मर्मसंगिनी नाचती रही, गाती रही, किसी निपुण कवि की अवि-

च्छिन्न काव्य-धारा-सी लहराती रही। उसके चरण-चाप की द्रुत मन्थर गति से, तालानुग उत्ताल नर्त्तन से, सारा वातावरण थिरक रहा था—सिहर-सिहर उठा था धरती का श्यामल अंचल।

किन्तु अकम्पित थे ध्यानी स्थूलभद्र।

रात्रि के कमनीय परिधान में थी कोशा। सभी वाद्ययन्त्र अपने आप ही झनझना रहे थे। क्या आकाश और क्या धरती—सर्वत्र ही मादकता छायी हुयी थी। यदि और कोई हुआ होता तो इस विद्युतवर्षण से अग्निधारा प्रवाहित होने लगती शिराओं में। और कहता अब तुम चली जाओ। अब मैं और अधिक नहीं सहन कर सकता। तुम जाओ।

इस प्रकार स्त्रियों के हस्तगत सभी कामास्त्र जब व्यर्थ हो गये तो कोशा कह उठी, व्यर्थ है यह रूप, व्यर्थ है यह कला और इसका गर्व। जिस रूप से लुभा न सकी निज प्रियतम को, क्या करूँगी उस रूप को लेकर? जो कला परास्त न कर सकी ध्यान गांभीर्य को क्या लाभ है उस कला से? किन्तु हाँ, जिसे मैं पा न सकी वाह्य जगत में, उसे अवश्य प्राप्त करूंगी अन्तर्मन में।

नीलाकाश में सप्तर्षि उदित हुए। कोशा निहार रही थी आकाश को। और सोच रही थी, कितना विराट है यह संसार! कितना असीम है यह काल! वीणा के तारों को दबाती हुयी उसकी सुकुमार अँगुलियाँ न जाने कब अटक गयीं। किन्तु मेघ-मल्हार की मर्म भरी तान अभी टूटी नहीं थी। ठीक इसी समय आ पहुँचे स्थूलभद्र। न तो कोशा ने आभरण पहन रखे थे, और न ही थी वस्त्रों में चमक-दमक। परि-

म्लान कमल-कलिका की भाँति मुरझाई हुयी कोशा के चेहरे पर थी विषाद की काली रेखा। कहने लगे, यह क्या कोशा ?

कोशा की विषाद भरी आँखें मानों कह उठीं, अब और क्या चाहते हो तुम मुझसे ?

स्थूलभद्र बोले, इतनी अशांत क्यों हो कोशा ?

कोशा बोली, मेरी वेदना क्या तुम्हारे हृदय को व्यथित करती है ?

हाँ, कोशा। जरा याद करो तो, तुम्हारे प्रेम में एक दिन सब कुछ छोड़ कर मैं चला आया था। शायद सुख का आभास उस दिन पाया था किन्तु पा न सका था इस निरवच्छिन्न आनन्द को। कोशा ! क्या उन दिनों अतृप्ति नहीं थी ? वेदना नहीं थी ? जिस सुख के पश्चात् न क्लान्ति है, न अवसाद है और न-ही-है अतृप्ति की ज्वाला, वही तो है आनन्द ! पूर्ण आनन्द !

सूर्य का आलोक जिस प्रकार अंधकार को दूर कर देता है उसी प्रकार श्रमण की दृष्टि-आलोक में कोशा के मन का अन्धकार समाप्त हो गया। बोली, प्रभो, मैं पतिता हूँ। क्या उस सत्य को प्राप्त करने को अधिकारिणी मैं हूँ ?

क्यों नहीं ?

उधर चातुर्मास समाप्त कर सभी श्रमण लौटे। किन्तु स्थूलभद्र नहीं आये थे। उन्होंने सोचा, स्थूलभद्र नहीं लौटेंगे। गणिका के अश्रुजल में संयम के बाँध को रखने की आशा तो दुराशामात्र ही है।

स्थूलभद्र लौटे। कठिन तपश्चर्या से उनका मुख प्रदीप्त हो रहा था।

स्थूलभद्र ने आचार्य को प्रणाम किया। आचार्य ने स्थूलभद्र का हाथ पकड़कर उन्हें अपने पार्श्व के आसन पर बैठाया।

इस दृश्य को देखकर सभी श्रमणों के मन में एक द्विधा उत्पन्न हो गयी। यह कैसा अन्याय ? यह कैसा पक्षपात ? जिन्होंने कठोर-कठोर व्रतों का पालन किया उन्हें जो सम्मान नहीं मिला वह स्थूलभद्र को क्यों मिला ? जो कि एक सामान्य पतिता के घर में थे ? न जाने वहाँ विभ्रम में थे वा विलास में। किन्तु मुँह खोलकर बोलने का साहस किसी में नहीं था।

फिर आया चातुर्मास। सब चले गये किन्तु वे श्रमण नहीं गये जो कि सिंह की गुफा में रहे थे। वे बोले, प्रभो, इस बार मैं कोशा के घर व्रत का उद्यापन करूंगा।

आचार्य ने कहा, यह कार्य कठिन है। कर सकोगे तुम ? केवल ईर्ष्या के वशीभूत होने से पछताना पड़ेगा।

प्रभु, मुझे आज्ञा दीजिये। मैंने अपना संकल्प स्थिर कर लिया है।

आचार्य ने कहा, ठीक है तब।

जब श्रमण बोले, कोशा, मैं तुम्हारे घर व्रत का उद्यापन करने आया हूँ, कोशा को एक वर्ष पूर्व की स्मृति हो आयी, क्योंकि इसी भावना से स्थूलभद्र भी आये थे। बोली, यह तो मेरा परम सौभाग्य है।

श्रमण ने सोचा, यही स्त्री कोशा है ? न तो उसकी आँखों में कटाक्ष है, न ही होठों पर मादक हास्य। पतिताओं के हाव-भाव विलास-

विभ्रम की जो मूर्ति उनके भावों में थी उसके विपरीत थी कोशा। वे सोचने लगे, स्थूलभद्र ने कोई कठिन कार्य नहीं किया है। कार्य तो मेरा ही कठिन था। खैर। इसे भी करके दिखा दूँगा। तभी आचार्य को अपनी भूल मालूम होगी।

तरुण श्रमण ने सोचा था कि उन्होंने अपने मन को पहिचान लिया है। किन्तु मन के अवचेतन में सुप्त वासनाएँ दबी थीं। तभी तो वे समझ ही नहीं सके कि उनके तन मन को कौन आविष्ट कर रहा है। अतः तपस्या शिथिल होने लगी।

कोशा श्रमण के निकट कदाचित् ही जाती थी। फिर भी कोशा को देखते ही श्रमण के हृदयमें हूक-सी उठने लगती। श्रमण की यह अन्यमनस्कता कोशा से छिपी न रही। अतः उसने वहाँ जाना बन्द कर दिया।

किन्तु परिणाम हुआ विपरीत। श्रमण के दोनों नेत्र न जाने किसे खोजने का असफल-सा प्रयास करते रहते, दोनों कान किसी की पदध्वनि सुनने को सदैव उदग्रीव रहते। प्रतिपल हृदय के अणु-अणु में कोशा का नाम झंकृत होता रहता।

रात्रि में जबकि कोशा सोने जा रही थी, उसने श्रमण को अपने सम्मुख पाया। चौंककर बोली, प्रभो! आप?

श्रमण देखते ही रह गये कोशा के मुख की ओर! मानों कह रहे थे, क्या समझी नहीं, कोशा!

इस सुन्दर मुख को ओर यदि लाख-लाख वर्षों तक भी देखा जाए तब भी तृप्ति नहीं हो सकती। आज श्रमण की दृष्टि अपलक थी।

कोशा सन्मुख आकर बोली, प्रभो ! आप ?

श्रमण बोले, आज सब खो चुका हूँ कोशा, आज एकमात्र तुम्हीं हो। इसीलिये तुम्हें प्राप्त करने आया हूँ। कितनी सुन्दर हो तुम !

कोशा की आँखों में जल भर आया। क्या सचमुच ही नारी के जन्म-स्थान पर शैतान की दृष्टि रहती है ?

सहज रूप से बोली कोशा, आप मेरे अतिथि हैं। यह तो मेरा भाग्य है। किन्तु इस विनिमय के प्रतिदान में आप मुझे क्या देंगे ?

मैं तो श्रमण हूँ। भला, क्या दे सकता हूँ तुम्हें।

बहुत देर तक सोचने के पश्चात् कोशा बोली, हाँ एक उपाय है किन्तु आप कर सकेंगे या नहीं ? नेपाल के सम्राट साधु सन्यासी को रत्न-कम्बल दान करते हैं, क्या आप मेरे लिये वह ला सकते हैं ?

क्यों नहीं ला सकता, कोशा ? तुम्हारी प्रसन्न मुद्रा यदि आँखों के सम्मुख रहे तो मुझे मरण का भी भय नहीं।

अनेक दिनों के पश्चात् अनेक दुःखों एवं कष्टों को उठा कर श्रमण लौटे। रत्न-कम्बल कोशा के हाथों में देते हुए बोले, लो।

रत्नकम्बल लेकर पहले तो कोशा ने उसे देखा, तत्पश्चात् टुकड़े-टुकड़े कर एक तरफ फेंक दिये।

एक दीर्घ निश्वास निकल पड़ी श्रमण के मुख से। कहने लगे, तुम इतनी बुद्धिहीन हो कोशा यह तो मुझे ज्ञात ही नहीं था ? इसके लिये मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ा यदि यह तुम समझ पाती तो ऐसा मूर्खता-पूर्ण कार्य नहीं करती।

कोशा ने हँसते हुए कहा, और मुझे तो यह भी मालूम नहीं था कि समस्त जीवन को विसर्जित कर जिस चारित्र का निर्माण किया जाता है उसका परित्याग भी इतना सहज है ?

एक क्षण के लिये श्रमण की आँखों से कामना का काला पर्दा सरक गया और वे देखने में समर्थ हुए अपने को। अरे ! चारित्र की परीक्षा देते हुए मैंने तो विसर्जित कर दिया है चारित्र को ही। पशुराज की गुफा में और जो कुछ भी हो सकता है किन्तु चारित्र की परीक्षा नहीं हो सकती, वह तो हो सकती है कोशा के घर असीमित कामनाओं के कूल पर। और यहीं मैं हार गया।

करबद्ध होकर श्रमण ने कोशा से क्षमा-याचना की और मन ही मन चाहने लगे आचार्य की दया। फिर कामजीत स्थूलभद्र को प्रणाम कर निकल पड़े।

नन्दीसेन

नन्दीसेन के संसार में अपना कोई नहीं था। उसे जन्म देने के पश्चात् ही उसकी माँ का देहान्त हो गया था और कुछ दिनों के बाद ही पिता का भी। इसीलिए उसका पालन-पोषण मामा के घर हुआ।

मामा के घर पर भी नन्दीसेन सुखी नहीं था। समस्त दिन उसे हाड़ तोड़ देने वाली खटनी करनी पड़ती एवं ऊपर से सहनी पड़ती ताड़ना, तर्जना और लांछना।

किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सारा दोष मामा-मामी का ही था। क्योंकि नन्दीसेन स्वयं भी जड़ एवं बुद्धिहीन था। वह किसी भी कार्य को समुचित रूप से नहीं कर पाता। मामा ने उसे लिखना पढ़ना सीखने के लिए भी भेजा। किन्तु कुछ दिन व्यतीत भी न हो पाए कि वह वहाँ से भी भाग आया।

सभी प्रकार की ताड़ना एवं लांछना को तो सहन करने का नन्दीसेन अभ्यस्त हो गया था। नहीं होता तो करता भी क्या? किन्तु जब उसे मामा की लड़कियाँ कुत्सित कहकर उसका उपहास करतीं उसकी अन्तरात्मा व्यथा से भर-भर उठती। वास्तव में नन्दीसेन कुत्सित था। जैसा उसका गुण था वैसा ही था उसका रूप भी।

एक दिन समस्त दिन की खटनी करने के पश्चात नन्दीसेन घर के कच्चे आंगन में स्थित वृक्ष के नीचे सो रहा था। उसे कुछ नींद सी आ गयी थी। तभी अचानक एक अट्टहास के कारण उसकी नींद टूट गयी। उसे ऐसा सुनायी पड़ा जैसे मामा की लड़की किसी से कह रही थी, कौन विवाह करेगा ऐसे काले कुत्सित से ?

इस वाक्य ने तीक्ष्ण तीर की भाँति उसके हृदय को बींध डाला। वह काला है, कुत्सित है, इसमें उसका क्या अपराध है ?

हठात् नन्दीसेन को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसके चारों ओर गहन अन्धकार छा गया है। प्रकाश की एक क्षीण रेखा भी जैसे उसके जीवन में अवशेष नहीं रही ?

अब नन्दीसेन घर पर नहीं रह सका। उद्भ्रान्त मन से वह एक पथ से दूसरे पथ पर भटकने लगा। जब रात पड़ी तो रास्ते के किनारे एक वृक्ष तले सो रहा। क्या होगा मामा के घर जाकर ? उसका अपना घर नहीं, जिसे वह अपना कह सके ऐसा भी तो कोई नहीं।

सोए-सोए ही नन्दीसेन ने एक स्वप्न देखा। उसे लगा जैसे सूर्योदय हो रहा है और समस्त जगत उमी सूर्योदय के आनन्द में उद्वेलित हो उठा है। पृथ्वी मानो एक अभूतपूर्व आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रही है।

नन्दीसेन के पूर्व भव का पुण्य अभी शेष नहीं हुआ था, तभी तो वह ऐसा स्वप्न देख पाया। स्वप्न टूटते ही वह हड़बड़ाकर उठ बैठा। देखा रात अधिक नहीं थी। पूर्वी आकाश में शुक्रतारा अब भी झिलमिला रहा था।

किन्तु जागने के साथ-साथ ही उसकी व्यथा भी जाग पड़ी। अतः घर लौटने की इच्छा ही नहीं हुयी। आँखों के सम्मुख जो राह थी उसी राह को पकड़कर अज्ञात रूप से आगे बढ़ता गया। शायद यह भी भूल गया कि उसने कौन सा स्वप्न देखा था।

इसी प्रकार निरन्तर चलते-चलते कितनी ही रातें व्यतीत हो गयीं एवं कितने ही दिन और कब वह राह शेष होकर वन में परिवर्तित हो गयी यह भी वह नहीं जान पाया। इसी भाँति एक वन से दूसरे वन में होते हुए वह पहुँच गया किसी महावन में।

उसी महावन में भटकते हुए नन्दीसेन को सुनायी पड़ा किसी का अमृत-निःस्यन्दी मधुर स्वर। जैसे कोई कह रहा था, नन्दीसेन! तुम क्या चाहते हो?

नन्दीसेन चौंक कर वहाँ का वहीं खड़ा रह गया। कौन पुकार रहा है उसे इस गहन वन में? किन्तु चाहे वह कोई भी रहा हो उसकी एक पुकार से नन्दीसेन की समस्त चेतना उसी प्रकार जाग्रत हो पड़ी जैसे सूर्य की प्रथम रश्मियों के स्पर्श से शतदल कमल।

नन्दीसेन आँखें उठाकर ऊपर देखने लगा। उसे दीखायी दिया नीला अन्धकार। किन्तु नहीं नहीं एक क्षण के पश्चात ही उसने देखा उसी स्वप्न में देखे सूर्योदय को। उसे लगा जैसे एक तेज पुंज श्रमण अपनी आँखों से बहती हुयी करुणा की धारा से उसे अभिसिंचित करते हुए उसी की ओर निहार रहे हैं।

नन्दीसेन उसी क्षण उनके पैरों पर गिर पड़ा। कहने लगा, प्रभो! मैं कुत्सित हूँ। न मेरे पास मेधा है, न बुद्धि। संसार में मेरे

लिए कहीं भी स्थान नहीं है। मैं आपका शरणागत हूँ, मुझे आश्रय दीजिए।

श्रमण के दिव्य आनन पर हास्य की एक ज्योति उद्भासित हो उठी। उसी अमृत-निःस्यन्दी स्वर में वे कहने लगे, वत्स! कौन कहता है तुम मेधाहीन हो, बुद्धिहीन हो, रूपहीन हो। वृहस्पति के समान तुम्हारी मेधा है, शुक्र के समान बुद्धि एवं प्रभात कालीन सूर्य के समान है तुम्हारा रूप। संसार में तुम्हारे द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न होंगे। मैं तुम्हें आश्रय देता हूँ। अब तुम्हें कोई भय नहीं।

आवेश के मारे नन्दीसेन का कंठ अवरुद्ध हो गया। वह केवल इतना ही कह पाया, प्रभो! मैं आपका शरणागत हूँ, आपका शरणागत।

नन्दीसेन के उस वाष्परुद्ध कण्ठ स्वर के प्रत्युत्तर में पुनः श्रमण का वही अमृत-निःस्यन्दी स्वर सुनायी पड़ा, वत्स! मैं तुम्हें जो कार्य दे रहा हूँ आज से तुम मन वचन काया से उसी कार्य को करो। उसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

इस बात को सुनकर नन्दीसेन पुनः एक बार उनके चरणों में लोट पड़ा। कहने लगा, प्रभो! मैं शरणागत हूँ, शरणागत।

तदुपरान्त ज्योंही नन्दीसेन उठकर खड़ा हुआ तो देखा कि श्रमण वहाँ नहीं हैं जहाँ वे खड़े थे। किन्तु उनके न रहने पर भी उसे लगा उनकी आँखों से जो करुणा प्रवाहित हुयी थी, वह धरती आकाश एवं समस्त वायुमण्डल में परिव्याप्त हो गयी है।

जहाँ श्रमण खड़े थे नन्दीसेन ने उसी स्थान पर खड़े होकर संकल्प

किया कि जो कार्य वे मुझे सौंप गए हैं उसे अवश्य ही मन वचन काया से सम्पन्न करूँगा।

उस बन को अतिक्रमण करते हुए नन्दीसेन एक गाँव में आया। गाँव के अन्त में एक उपाश्रय था। नन्दीसेन ने उसी उपाश्रय में आश्रय चाहा। वहाँ के श्रमणों ने उसे आश्रय दिया।

अल्प दिनों में ही नन्दीसेन उस उपाश्रय के सभी साधुओं का प्रिय बन गया। उसकी सेवा से सभी सन्तुष्ट थे।

नन्दीसेन केवल उपाश्रय के साधुओं की ही सेवा नहीं करता बल्कि राह में आते जाते सभी साधुओं को उपाश्रय में लाता। उनकी सेवा करता। इतना ही नहीं वहाँ के अधिवासियों की भी सेवा में वह निमग्न रहता। अतः सर्वत्र उसकी ख्याति फैल गयी। किन्तु जिसकी ख्याति फैल रही थी, उसको ख्याति की कोई कामना ही नहीं थी। अतः वह ख्याति को दोनों पाँवों से रौंदता हुआ अक्लान्त भाव से सबकी सेवा में संलग्न था। ऐसा लगता था मानो उस सेवा में वह स्वयं को भी भूल गया था।

अनेक दिनों पश्चात् गाँव में अचानक विशूचिका महामारी फैल गयी। अब तो नन्दीसेन को एक क्षण का अवकाश नहीं। जब लोग गाँव छोड़कर भागने लगे तब नन्दीसेन पीड़ितों के सिरहाने साक्षात करुणा की मूर्ति की भाँति सदा जाग्रत आँखों को लिए बैठा रहता। दिन पर दिन व्यतीत हो जाते किन्तु वह आहार प्राप्त नहीं कर पाता।

श्रमण को गोद में लेकर नन्दीसेन उपाश्रय की ओर चल पड़ा।

रात पर रात बीत जातीं किन्तु उसे सोने का भी अवसर नही मिलता। फिर भी नन्दीसेन के मुख पर न ही विरक्ति थी और न ही नेत्रों में क्लान्ति। वह अपने व्रत को सार्थक कर रहा है; बस—इसी में वह आनन्दित था, कृतार्थ था।

उन्हीं दिनों में एक दिन ऐसा भी आया जिस दिन नन्दीसेन खाने बैठा, तभी किसी ने खबर दी कि अतिसार से पीड़ित एक वृद्ध श्रमण कई दिनों से राह के किनारे पड़े हुये हैं। उन्हें तुरन्त सम्भालने की आवश्यकता है। नन्दीसेन उसी क्षण खाना छोड़कर श्रमण की सेवा में उपस्थित हुआ।

नन्दीसेन ने श्रमण को जिस स्थिति में पाया उसमें किसी अन्य व्यक्ति का सेवा करना तो दूर, खड़ा रहना भी कष्टप्रद था। किन्तु नन्दीसेन के मन में कोई विकार नहीं आया। उसने तत्क्षण उनकी देह को मालिन्य मुक्त किया। फिर धीरे से बोला, प्रभो! मेरे ऊपर भार देकर आप उपाश्रय तक यदि चल सकते हैं तो....

नन्दीसेन को अपना वाक्य पूर्ण करने का सुयोग नहीं मिला। वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही वे श्रमण कराहते हुए शीघ्रता से बोले, कहाँ है वह हतभागा नन्दीसेन? जिसकी इतनी ख्याति सुनी थी। कितने दिनों से यहाँ पड़ा हूँ किन्तु उसकी सूरत तक दीखायी नहीं दी।

इस बात को सुनकर नन्दीसेन ने सिर झुका लिया। फिर नम्रता पूर्वक बोला, ख्याति की बात तो मुझे मालूम नहीं किन्तु वह हतभाग्य मैं ही हूँ।

तुम ! तुम हो ! जो कुछ सुना था सब झूठ निकला। तुम तो चण्डाल हो।

इतना सुनकर भी नन्दीसेन को क्रोध नहीं आया। उसने श्रमण के पैरों को कसकर पकड़ते हुए कहा, प्रभो ! आप ठीक ही कह रहे हैं। मैं चण्डाल ही हूँ, नहीं तो क्या आपको उपाश्रय तक पैदल चलने को कहता। आदेश दीजिए तो मैं आपको गोद में उठाकर उपाश्रय ले चलूँ।

तो ले चलो उसी प्रकार, श्रमण ने क्रोधावेश में कहा।

श्रमण को गोद में लेकर नन्दीसेन उपाश्रय की ओर चल पड़ा। रास्ता तो बहुत छोटा ही था, किन्तु उसे लग रहा था कि जैसे वह किसी प्रकार शेष ही नहीं हो रहा है। उसकी आँखों के सामने अन्धकार छाने लगा। मारे भार के हाथ टूटे जा रहे थे। पाँव तो मानो उठ ही नहीं रहे थे। कौन जानता था कि श्रमण के सूखे हाड़ों में इतना भार होगा !

इधर श्रमण भी रह-रहकर जोर से कराह रहे थे और धिक्कार रहे थे नन्दीसेन को कि अब और कितनी दूर है ? कितनी दूर है ?

जिस मालिन्य से नन्दीसेन ने उनको मुक्त किया था, उसी मालिन्य में वे पुनः लिप्त हो गए, मात्र स्वयं ही नहीं, इसबार उन्होंने लिप्त कर डाला था नन्दीसेन को भी। किन्तु नहीं, नन्दीसेन के मन में कोई भी वस्तु अब विकार पैदा नहीं कर सकती। अक्षुब्ध मन से वह उन्हें लिए चला जा रहा था।

और कितनी दूर ?

नहीं, अब अधिक दूर नहीं, सामने ही है अब उपाश्रय। नन्दीसेन पूर्ण शक्ति लगाकर पाँव उठाने लगा।

किन्तु यह क्या? कहाँ से बहकर आ रहा है समीर में यह सौरभ? अबतक जो गन्ध असह्य थी कहाँ गई वह गन्ध? विस्मित भाव से नन्दीसेन ने सिर उठाया तो सम्मुख पाया उसी प्रभात के सूर्योदय को। वे ही श्रमण अपनी दोनों आँखों से प्रवाहित करुणा की अमल धारा से उसे अभिसिंचित कर रहे हैं।

तभी नन्दीसेन के कानों में दूर से आते संगीत की भाँति बहता हुआ वही अमृत-निःस्यन्दी कण्ठस्वर सुनाई पड़ा, नन्दीसेन! मैं तुम्हारी सेवा से सन्तुष्ट हुआ। तुम्हारा व्रत सार्थक हुआ। तुम सर्वार्थसिद्ध हुए।

पुनः वह कण्ठ स्वर सुनाई नहीं पड़ा, और न ही दिखायी दी वह दिव्य ज्योति। जिस श्रमण को वह अबतक वहन किए हुये था वे अन्तर्हित हो गए। नन्दीसेन अपलक देखता ही रह गया उपाश्रय की ओर।

प्रभो! मैं शरणागत हूँ, शरणागत, कहता-कहता जमीन पर लुढ़क पड़ा नन्दीसेन।